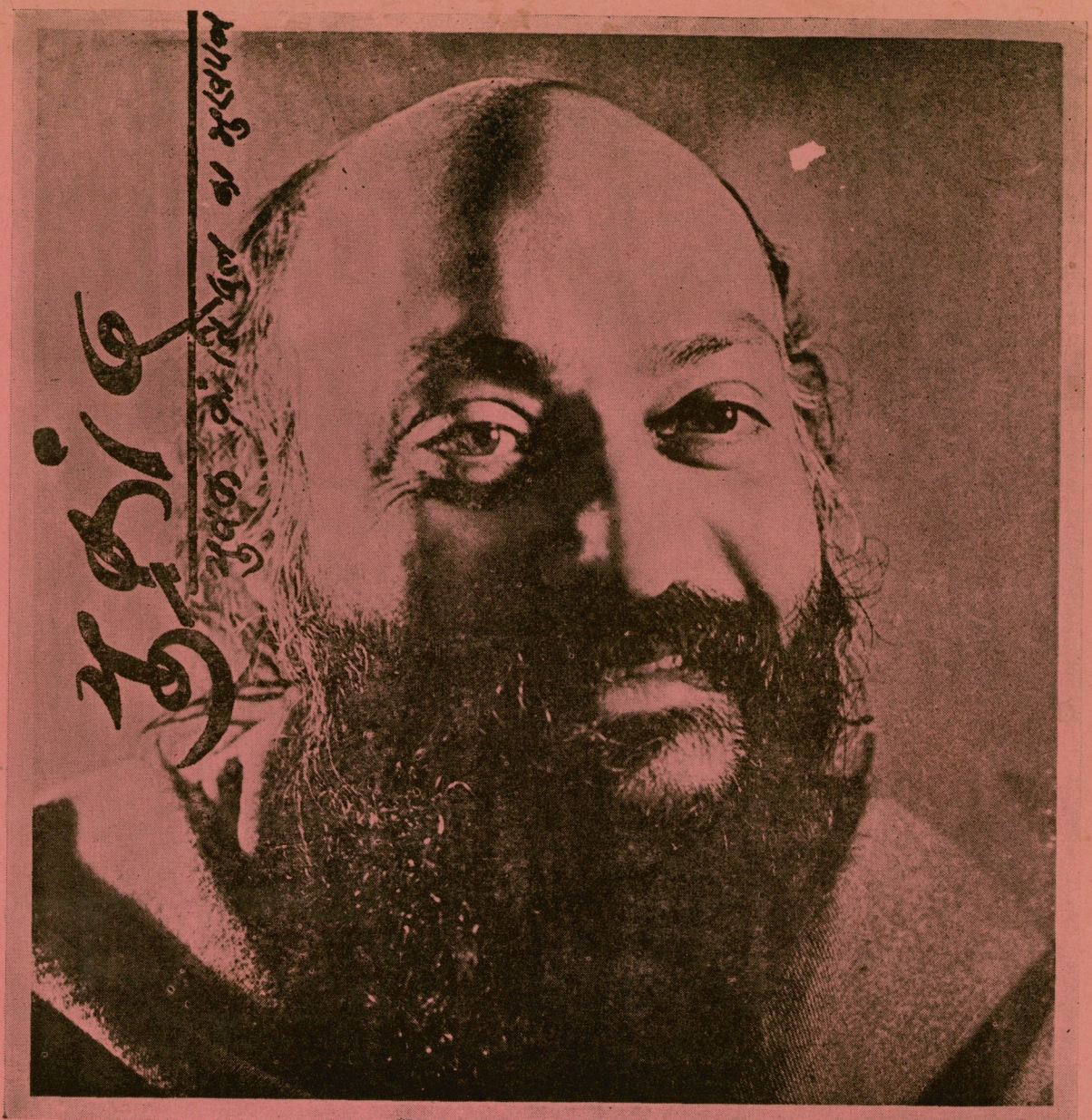

जीवन क्या है ?

- **एक पवित्र यज्ञ।** लेकिन उन्हीं के लिए जो सत्य के लिए स्वयं की आहुति देने को तैयार होते हैं।
- **एक अमूल्य अवसर।** लेकिन उन्हीं के लिए जो साहस, संकल्प और श्रम करते हैं।
- **एक वरदान देती चुनौती।** लेकिन उन्हीं के लिए जो उसे स्वीकारते हैं, और उसका सामना करते हैं।
- **एक महान संघर्ष।** लेकिन उन्हीं के लिए जो स्वयं की शक्ति को इकट्ठा कर विजय के लिए जूझते हैं।
- **एक भव्य जागरण।** लेकिन उन्हीं के लिए, जिन्होंने स्वयं को निद्रा और मूर्च्छा से लड़ते हैं।
- **एक दिव्य गीत।** लेकिन उन्हीं के लिए, जिन्होंने स्वयं को परमात्मा का वाद्य बना लिया है।
- **अन्यथा, जीवन एक लम्बी और धीमी मृत्यु के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।**

– आचार्य श्री रजनीश

युक्राँद (आचार्य श्री रजनीश के विचारों का देश का प्रथम पाक्षिक संकलन) प्रथम अंक १५ जून १९६९ मूल्य ६० न. पै. वार्षिक १२ रु०

सम्पादकीय

- आचार्य श्री रजनीश जी सृजनात्मक क्रांतिकारी विचारक, आत्मनिष्ठ विभूति तथा व्यक्ति, समाज और देश की सीमाओं को पारकर समूचे मानव समाज की लोक-चेतना के निर्माण में अभिनव जीवन दृष्टि दे रहे हैं।
- उनके विचार समाज को शांतिमय क्रांति का आवाहन करते हैं।
- उनके विचार अर्थ, समाज, धर्म, राजनीति, कला, साहित्य, दर्शन, मनोविज्ञान को नवीन जीवन दिशा देते हैं।
- 'युक्राँद' उनके विचारों का राष्ट्र और विश्व के सृजनात्मक क्रांति के निर्माण में शांतिमय जीवन दृष्टिकोण का स्वागत करता है और एक-एक हृदय तक आचार्य श्री की वाणी पहुँच सके इसके लिए आपके सहयोग और प्रेम का आवाहन करता है।
- 'युक्राँद' सांस्कृतिक, शांतिमय सृजन के महान उद्देश्य की पूर्ति के लिए समर्पित है।

सम्पादक ● अजितकुमार एम.काम.एलएल.बी.
४५४ हनुमानताल, जबलपुर

प्रकाशक ● युक्राँद प्रकाशन समिति,
कमला नेहरू नगर,
जबलपुर
फोन : २७५७

मुद्रक ● स्वदेश प्रिंटिंग प्रेस,
ज्योति सिनेमा के सामने,
जबलपुर

शांति और क्रांति : दिशा बोध

•

सहनशीलता जिसमें नहीं है, वह शीघ्र ही टूट जाता है; और जिसने सहनशीलता के कवच को ओढ़ लिया है, जीवन में प्रतिक्षण पड़ती चोटें उसे और भी मजबूत कर जाती हैं।

मैंने सुना है :
एक व्यक्ति किसी लुहार के द्वार से
गुजरता था। उसने निहाई पर
पड़ते हथौड़े की चोटों को सुना, और
भीतर झांककर देखा। उसने देखा कि
कोने में बहुत से हथौड़े टूटकर और
विकृत होकर पड़े हुए हैं। समय और
उपयोग ने ही उनकी ऐसी गति की
होगी। उस व्यक्ति ने लुहार से पूछा
"इतने हथौड़ों को इस दशा तक
पहुंचाने के लिये कितनी निहाइयों
की आपको जरूरत पड़ी ?"

वह लुहार हँसने लगा और बोला, "केवल एक ही मित्र। मित्र एक ही निहाई सैकड़ों हथौड़ों को तोड़ डालती है, क्योंकि हथौड़े चोट करते हैं, और निहाई सहती है।"

यह सत्य है कि अन्त में वही जीतता
है, जो चोटों को धैर्य से स्वीकार करता
है। निहाई पर पड़ती हथौड़ों की चोटों
की भांति ही उसके जीवन में भी चोटों
की आवाज तो बहुत सुनी जाती है
लेकिन अंततः हथौड़े टूट जाते हैं, और
निहाई सुरक्षित बनी रहती है।

जीवन क्रान्ति के महाचेता : आचार्य श्री रजनीश

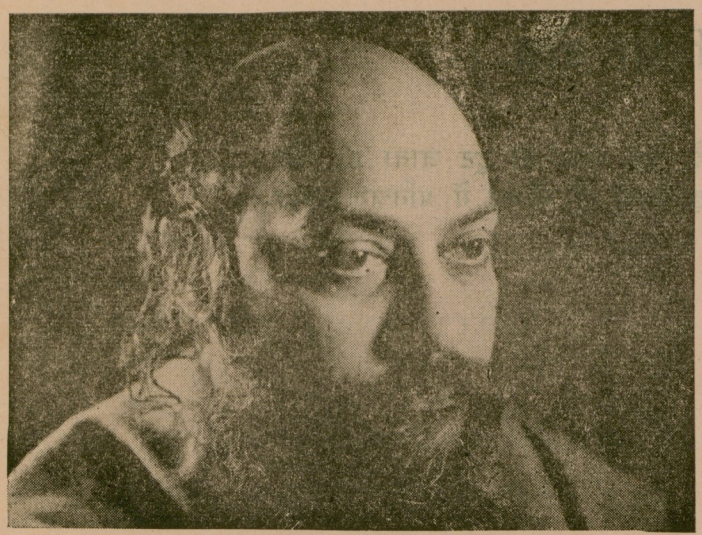

दुःखी और जीवन से निराश लोगों को शांति और आनन्द की दिशा की ओर अग्रसर करने वाले आचार्य श्री रजनीश की अद्भुत आध्यात्मिक चेतना रूपी दीपशिखा से न जाने कितने हृदयों की प्रसुप्त अन्तर्ज्योति प्रज्वलित हो उठी हैं, उनके चित्त की आनन्द की तरंगे, उनके विराट प्रेम का निर्झर किसी व्यक्ति, समाज, जाति या देश तक सीमित न होकर विश्व के कण-कण के प्रति निरन्तर बहता रहता है, उनके लिये तो प्रेम की चरम स्थिति ही परमात्मा है, इसका विवेचन करते हुये वे कहते हैं कि 'जो प्रेम (Love) दो व्यक्तियों के बीच का सम्बन्ध है, वही जब मेरे और सर्व के बीच होता है तो मैं उसको ईश्वर कहता हूं...अहं केन्द्र के विसर्जन पर जो विश्व का दर्शन होता है : उस दर्शन, उस अनुभव को ही मैं ईश्वर कहता हूं...सर्व प्रेम की उस अनुभूति का नाम ही ईश्वर है जिसका कोई केन्द्र नहीं है, जो कि समस्त सत्ता है ?

अहं के विसर्जन पर अर्थात 'मैं' की शून्यता पर जो अनुभूति होती है उसका वर्णन इन शब्दों में हुआ है : 'मैं' है, जो बसन्त में नई फूटती कोपलों में है, वही मुझमें है, मैं विश्वसत्ता से कहीं भी टूटा और पृथक नहीं हूं। उसमें हूँ...वही हूँ।"

अहं और ब्रह्म के अन्तर को आचार्य जी ने अपनी अत्यंत संक्षिप्त किन्तु सरल शैली में इस प्रकार स्पष्ट किया है : 'मैं' की दो सत्तायें है, अहं और ब्रह्म। अहं वह है जो मैं नहीं हूँ पर जो 'मैं' जैसा भासता है। ब्रह्म वह है जो मैं हूं लेकिन जो मैं जैसा प्रतीत नहीं होता।

हमारी चेतना शुद्ध चैतन्य ब्रह्म है अर्थात स्वयं की आत्यंतिक सत्ता ही ब्रह्म है और हमारा स्वरूप परमात्मा है। परन्तु अपने विचार प्रवाह के साथ मनुष्य का जो तदात्म्य हो जाता है उसके कारण मनुष्य मन, विचार और भावों के ऊपरी सतह पर ही इतना उलझा रहता है कि उसे अपने भीतर झांकने का समय ही नहीं मिलता जिसके परिणामस्वरूप वह अपनी आन्तरिक गहराई में छिपी हुई अपनी मूल सत्ता से जो कि आत्मा है, जो कि चेतना है, नितान्त अपरिचित रह जाता है और उसे यह मालूम ही नहीं होता कि चित्त के कोलाहल के पीछे चेतना का कितना अनादि एवं अनन्य प्रकाश है। चित्त अनेक हो सकते हैं किन्तु चेतना (Consciousness) तो एक ही है। अतः चित्तों के भीतर जो चेतना है उसको खोजना चाहिये और वह तभी संभव हो सकता है जब बाह्य संसार से संलग्न अपनी चेतना अन्तर्मुखी हो जाये। "दृष्टि जब स्वयं की आत्यंतिक गहराई में प्रवेश करती है तो अनेकता की लहरों के नीचे एकता का धरातल मिलता है। "दृष्टि का, दर्शन का यह आत्यंतिक (ultimate) प्रवेश ही योग है।" अपनी इस मूल सत्ता के साथ जब ऐक्य होता है तो उसे 'समाधि' कहा जाता है। समाधि एक प्रकार से स्व आधार चैतन्य' ही है। सत्य का द्वार समाधि ही है क्योंकि जागृति में संसार को देखते हैं, निद्रा में स्वप्न को देखते हैं और समाधि में स्वयं को देखते हैं। समाधि अवस्था का विश्लेषण करते हुए आचार्य जी कहते हैं : 'समाधि को मैं महामृत्यु (Great Death) कहता हूँ। साधारण मृत्यु से मैं मिटूंगा पर पुनः हो जाऊंगा क्योंकि मेरा 'मैं' उसमें नहीं मिटेगा। वह मैं नये जन्म लेगा और नई मृत्युओं से गुजरेगा। साधारण मृत्यु वास्तविक मृत्यु नहीं है...समाधि महामृत्यु है क्योंकि उसमें 'मैं' मिट जाता है और उसके साथ जन्म और मृत्यु भी मिट जाते है, और जो शेष रह जाता है वही जीवन है। इस महामृत्यु को ही हम मोक्ष कहते हैं, निर्वाण कहते हैं... ब्रह्म कहते हैं।"

शुद्ध, प्रबुद्ध चैतन्य की अनुभूति के बाद जब साधक की दृष्टि बदल जाती है तो उसे इसी संसार में प्रतिक्षण परमात्मा के दर्शन होते हैं, "मैं प्रकृति में ही परमात्मा को देखता हूँ। प्रतिक्षण प्रतिघड़ी उसका मुझे अनुभव हो रहा है। एक स्वांस भी ऐसी नहीं आती जाती है जब उससे मिलना न हो जाता हो। जहां भी आँख पड़ती है मैं देखता हूं कि वह उपस्थित है और जहां भी कान सुनते हैं, पाता हूं कि उसका ही संगीत बज रहा है।" समाधि की उच्च स्थिति तक पहुंचने की सीढ़ी है, "ध्यान" ध्यान क्रिया नहीं, अवस्था है। वह अपने स्वरूप में होने की स्थिति है। मनुष्य शरीर से या मन से नाना क्रियाओं में सदा इतना व्यस्त रहता है कि वह अपने "स्व" को अपनी वास्तविकता को नहीं जान पाता। इस स्वनिर्मित भीड़, से भटकन से बाहर होने का मार्ग ध्यान है जो कि वस्तुतः अव्यस्त मन (Unoccopied-Mind) का नाम है। ध्यान ही चित्त को विचारशून्यता की उस शांत और अनुद्विग्न स्थिति में ले जाता है जहां सत्य का साक्षात्कार होता है। सत्य की कोई सीमा नहीं है अतः उसकी प्राप्ति के लिये विचार की परिधि को पार करना आवश्यक है। असीम होकर ही असीम को जाना जा सकता है। आचार्य जी ध्यान को 'क्रिया' नहीं अपितु "अक्रिया" मानते हैं। उनका कहना है कि क्रिया में हम अपने से बाहर के जगत् से संबंधित होते हैं और अक्रिया में स्वयं से संबंधित होते हैं। जिस दिन समाधि अवस्था को प्राप्ति होती है उस दिन ध्यान आवश्यक हो जाता है या यह कहना चाहिये कि वह पूर्ण हो जाता है।

जिसकी तीव्र संवेदनशीलता जड़ जगत् में भी दिव्य सत्ता का आभास पाने के कारण एक फूल को भी पौधे से अलग नहीं कर सकती और प्राणी मात्र की पीड़ा से जिसकी आंखों में करुणा सागर उमड़ पड़ता है, ऐसे व्यक्ति की हृदय की कोमलता मानवता के दुख को कैसे सहन कर सकती है? "मनुष्य को यह क्या हो गया है? मैं आश्चर्य में हूं कि इतनी आत्म विपन्नता इतनी अर्थहीनता और इतनी घनी ऊब के बावजूद भी हम कैसे जी रहे हैं? मैं जब मनुष्य को देखता हूं तो उसकी आंतरिक दरिद्रता को देखकर हृदय बहुत विषाद से भर जाता है।"

जीवन की इस रिक्तता के कारण ही तो मनुष्य अपने अकेलेपन से घबड़ाता है और नाना उपायों द्वारा वह इस रिक्तता को भरने की असफल चेष्टा करता है। वास्तव में आज का मनुष्य किसी बाह्य अभाव के कारण दुखी नहीं है। उसके दुख का कारण तो यह है कि वह अपने जीवन के मूलस्त्रोत से अर्थात् स्वसत्ता से विछिन्न हो गया है और तथ्य यह है कि "धर्म से विछिन्न जो युग होता है, जो मनुष्य होता है वह आनन्द में नहीं हो सकता।" जबकि समस्त जीवन आनन्द मांगता है क्योंकि जीवन की सफलता और सार्थकता आनन्द में है

आनन्द की इस विचित्र प्यास से ही धर्म का जन्म हुआ है और इस धर्म की जड़ें हमारी आत्मा में है। संप्रदाय भले ही अनेक हों किन्तु सत्य धर्म तो सदा एक ही है, धम अजन्मा है। हां...सम्प्रदाय जन्मते हैं, संगठित होते हैं अतः उनकी मृत्यु और विघटन भी अनिवार्य है किन्तु व्यक्ति जब तक इन मृत संप्रदायों के बोझसे मुक्त नहीं हो जाता तब तक सच्चे धर्म से परिचित नहीं हो सकता। सत्य की खोज के लिये तो मुक्त जिज्ञासा अपेक्षित है और यदि स्व अनुभूति से पहिले ही अपने मन को किसी विशेष सिद्धात या मत से जकड़ दिया जाये तो जिज्ञासा कुन्ठित हो जाती है।

धर्म का जिज्ञासु प्रायः शास्त्रों की शरण लेता है किन्तु कोरे शास्त्रज्ञान से क्या कभी किसी के जीवन में आध्यात्मिक क्रांति हुई है। शास्त्रों के सिद्धांतों को तोते की भांति रट लेना तो आसान है किंतु उस परमतत्व की प्राप्ति के लिये स्वयं साधनापथ पर चलना बहुत कठिन है। अधिकांश शास्त्र रचियता दूसरों की आध्यात्मिक अनुभूतियों को यथाशक्ति अपनी विचारणा और तर्कणा द्वारा ग्रहण करके जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं उसी के आधार पर वे अपने सिद्धांतों का निर्माण करते हैं। किन्तु सच तो यह है कि कृष्ण, बुद्ध या महावीर जसी महान् आत्माओं की वाणी को समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम भी उनके जैसी उच्च आध्यात्मिक स्थिति को प्राप्त कर लें। बिना स्व अनुभूति की भूमिका के केवल बुद्धि के सहारे उनके शब्दों का ठीक ठीक अर्थ समझ में नहीं आ सकता। आत्मानुभूत के आनन्द की अभिव्यक्ति तो सचमुच गूंगे का गुण है। भाषा उसको व्यक्त करने में असमर्थ है क्योंकि जिस भाषा का निर्माण क्रियाओं को प्रकट करने के लिये हुआ हो वह मौन को कैसे व्यक्त कर सकती है।

—उर्मिला एम. ए.

समापन अगले अंक में...

राष्ट्र और जीवन : एक ज्वलंत समस्या : युवा पीढ़ी और भविष्य

जीवन का अर्थ उन्हीं को प्रगट होता है जो मृत्यु से जूझने को तैयार हो जाते हैं। जो मरने को तैयार हैं, वे ही केवल जीवन के रस को और आनन्द को उपलब्ध कर पाते हैं। जो मरने से भयभीत हो जाते हैं, वो मरने के पहिले जीवन में बहुत बार मर जाते हैं।

अतीत की ओर हमारी उन्मुखता के बहुत से कारण हैं, उनमें से बुनियादी कारण मैं आपसे कहना चाहूँगा। बुनियादी कारण मनोवैज्ञानिक हैं। पहली बात हर बच्चा अपने मां-बाप से प्रेम करता है, अपने मां-बाप का आदर करता है। बचपन से ही बड़ों के आदर और प्रेम की संभावना विकसित होती चली जाती है, जो कि जरूरी भी है, उचित भी है, वांछनीय भी है, कि बच्चे अपने बड़ों का आदर करें। लेकिन बड़ों का आदर, वृद्धों का आदर धीरे धीरे पुराने के आदर में परिवर्तित हो जाता है, जो कि खतरनाक है। नई पीढ़ी पुरानी पीढ़ी का आदर करे, ये तो ठीक है। लेकिन पुरानी पीढ़ी के आदर के कारण पुराने का आदर करना गलत बात है। ये हमें पता भी नहीं चलता कि पुरानी पीढ़ी का आदर करते करते कब हम पुराने समाज, पुराने विचार, पुरानी दृष्टि का भी आदर करने लगते हैं। ये भूल समझ में नहीं आती अनजाने हो जाती है। स्वभावतः पुरानी पीढ़ी का आदर आवश्यक है लेकिन पुराने का आदर आवश्यक नहीं। ठीक इसके विपरीत घटना पश्चिम में घट गई है। जिस दिन से उन्होंने पुराने का आदर छोड़ दिया है उस दिन से पुरानी पीढ़ी का आदर भी समाप्त कर दिया। इसलिये मैं कहना चाहता हूँ कि ये दोनों बातें जुड़ी हुई हैं। अब तक जुड़ी हुई रही हैं। आगे नहीं जुड़ी होना चाहिये। ये भी कहना चाहता हूँ। पश्चिम में जिस दिन से पुराने का आदर समाप्त हो गया, उसी दिन से वृद्ध जनों का आदर भी समाप्त हो गया। आज अमरीका में वृद्ध मां-बाप जितनी तकलीफ और पीड़ा में हैं, उतनी तकलीफ और पीड़ा पृथ्वी पर किसी समय में कभी नहीं थी। आज बूढ़ों के लिये जीने का अमरीका में कोई अर्थ नहीं रह गया है। पश्चिम में पुराने के आदर के खोने के साथ वृद्ध जनों का आदर खो गया जो कि इतना ही खतरनाक है जितना हमारी दूसरी प्रवृत्ति कि हम वृद्ध के आदर के साथ पुराने का भी आदर करें। वृद्ध का आदर होना चाहिये, लेकिन पुराने का नहीं। ये मनोवैज्ञानिक भूल काम करती रही है।

और भी कुछ मनोवैज्ञानिक कारण है : जैसे हर पीढ़ी ये समझती है, उसका अहंकार, 'Ego' उसे ये समझाता है कि आने वाले बच्चे उससे श्रेष्ठ कैसे हो सकते हैं। ये समझना भी मुश्किल होता है कि छोटे छोटे बच्चे और हमसे श्रेष्ठ होंगे। तुम भी जब बड़े हो जाओगे और तुम्हें समझना मुश्किल होगा कि तुम्हारे बच्चे तुमसे ज्यादा बुद्धिमान हो सकेंगे। हर पीढ़ी को ऐसा लगता है कि उससे बुद्धिमान तो आनेवाली पीढ़ी नहीं हो सकती है। सिर्फ अहंकार के कारण और इसलिए हर पीढ़ी ये भाव पैदा करती है कि हम ही श्रेष्ठ हैं। और हर पीढ़ी आने वाले बच्चों में हीनता का भाव भी पैदा करती है। और जब हम ये भाव पैदा करते हैं कि हम ही श्रेष्ठ हैं तो आने वाली पीढ़ी में स्वभावतः ये भाव पैदा होता है कि वो हीन है। क्योंकि श्रेष्ठता और हीनता एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जब हर घर में, हर समय में, हर पीढ़ी ये दुहराती है कि हम श्रेष्ठ है तो आने वाली पीढ़ी को लगता है कि पुरानी पीढ़ी श्रेष्ठ है, हम हीन हैं। और धीरे धीरे पतन का ये भाव पैदा होता चला जाता है और हजारों साल, हजारों पीढ़ियां बीतने पर ऐसा लगने लगता है कि मनुष्य का इतिहास नीचे की तरफ जा रहा है, पतन की तरफ जा रहा है। हर पुरानी पीढ़ी श्रेष्ठ थी, उससे भी श्रेष्ठ उससे पुरानी पीढ़ी थी, और उससे भी श्रेष्ठ उससे पुरानी पीढ़ी थी। जो जितना पुराना वह उतना ही श्रेष्ठ था। इस भांति स्वर्ण युग अतीत में ठहर जाता है जबकि

स्वर्ण युग, गोल्डन ऐज हमेशा भविष्य में होना चाहिये। सच तो ये है कि स्वर्ण युग कभी भी आता नहीं है, हमेशा भविष्य में होता है। हम हमेशा कोशिश करते हैं उसे लाने की और लाने की कोशिश में विकसित भी होते हैं, लेकिन वह कभी आता नहीं, वह हमेशा दूर आगे सपनों की भांति खड़ा रहता है। एक एक सपनों में विकास होता है। जैसे क्षितिज दिखाई पड़ता है पृथ्वी में दूर छिपा हुआ, लगता है ऐसे ही थोड़ी दूर चलेंगे और क्षितिज के पास पहुंच जायेंगे। पर हम चलेंगे और पायेंगे कि क्षितिज और आगे बढ़ गया है। हम एक कदम चलते हैं और क्षितिज आगे बढ़ता जाता है। सच तो ये है कि क्षितिज एक झूठ है, वो कहीं है नहीं, कहीं आकाश पृथ्वी को छूता नहीं है। सिर्फ छूता हुआ दिखाई पड़ता है। ठीक ऐसे ही स्वर्ण युग, एक ऐसा युग जिसमें सब आनन्द होगा, सब शांति होगी, जीवन परिपूर्णता को उपलब्ध होगा, ऐसा युग कभी भविष्य नहीं होता। हमेशा हम आगे बढ़ेंगे और वह आगे बढ़ता चला जायेगा। लेकिन उसका हमसे आगे होना जरुरी है ताकि हम आगे बढ़ सकें। अगर वो हमारे पीछे ठहर गया तो हमारी गति बंद हो जाती है और समाज डायनामिक न रह के स्टेटिक रह जाता है। गतिमान न रहकर ठहरा हुआ समाज रह जाता है। इस भूल के ऊपर उठ जाने की जरुरत है कि स्वर्ण युग हमारा पीछे हो चुका है। जिस दिन से हमने ये बात पकड़ रखी है : स्वर्ण युग के पीछे हो जाने की, उसी दिन से हमारा समाज ठहर गया है। गति अवरुद्ध हो गई है। जैसे गंगा ठहर जाये, सागर की तरफ बहना उसका बंद हो जाये, तो क्या होगा ? गंगा ठहरेगी तो सरोवर बन जायेगी। सड़ेगी, गंदगी फैलायेगी और जीवन की सारी गति समाप्त हो जायेगी। और सागर से मिलने का आनन्द भी समाप्त हो जायेगा। भारत का समाज एक सरोवर बन गया है, एक सरिता नहीं। और उसके ठहराव में स्वर्ण युग की अतीत की कल्पना हाथ बटा रही है। आने वाली पीढ़ी को और आने वाली सारी पीढ़ियों को श्रम करके, संघर्ष करके स्वर्ण युग को भविष्य में ठहराने की जरुरत है। हमारी कल्पना का राज्य पीछे हो नहीं चुका, अभी होने को है, सदा होने को है। सदा भविष्य में रहेगा। हम बढ़ेंगे, दौड़ेंगे उसको पाने के लिये। उसे पाने की कोशिश में हम आगे बढ़ेंगे, उसे पा नहीं लेंगे और पाना आगे हमेशा शेष रहेगा। ये खोज अनंत होगी, ये यात्रा अनन्त है, लेकिन जिस समाज ने समझ लिया कि ये घटना घट चुकी है, उस समाज का बड़ा दुर्भाग्य है, उस समाज के विकास के लिए कोई उपाय नहीं रह जाता, शायद तुम्हें ख्याल होगा कि हम समझते हैं कि सतयुग पहले हो चुका अब कलयुग चल रहा है, श्रेष्ठ युग पहले हो चुके, निकृष्ट युग अब चल रहा है, ये बड़ी भूल भरी बात है, ये शीर्षासन करता हुआ विचार है, जैसे कोई सिर के बल खड़ा हो जाये, सिर के बल हम खड़े हो सकते हैं लेकिन फिर उठ नहीं सकते, ये उल्टी बात है, कलयुग रहा होगा पहले सतयुग आयेगा; क्योंकि मनुष्य चलता है मन के भाव से, अगर हम हार का पराजय का भाव मन में बिठालें तो समाज हार जायेगा अगर हम विजय का, उल्हास का, जीवन का, जीतने का भाव बनालें तो हम जीतेंगे, जीवन वही बन जाता है जो हमारे संकल्प होते हैं। भारत के संकल्प ने आत्म हत्या करली है, वो मर गया है बहुत समय पहले, अब हमें प्रतीक्षा करनी है और नीचे की ओर गिर जाने की, पतन की ओर गिर जाने की. और बाप अपने बेटे को कन्डेमन् करता है कि तुम और पतित निकले हो और वो भी अपने बेटे को कहेगा कि तुम हद पतित हो गये हो, और ये प्रक्रिया जारी रहेगी और हमारा पूरा व्यक्तित्व हीन होता चला जायेगा, जो कि हो गया है आज पृथ्वी पर हमसे ज्यादा हीन व्यक्तित्व किसी का भी नहीं है, हमसे ज्यादा भयभीत, डरा हुआ व्यक्तित्व किसी का नहीं है, हमसे ज्यादा सिकुड़ा हुआ व्यक्तित्व किसी का भी नहीं है, हमारे जीवन की उल्हास धारा रुक गई, ठहर गई, अब हम नये शिखर छूने नहीं जाते।

हमारे मुल्क में हैं एवरेस्ट, लेकिन बढ़ने के लिये बाहर से यात्री आते हैं, हम नहीं चढ़े, शायद तुम्हें पता भी नहीं, तुममें से एक भी बता नहीं सकता कि एवरेस्ट का वस्तुतः भारतीय नाम क्या क्या है ? एवरेस्ट का भारतीय नाम बताना भी कठिन है, गौरीशंकर भी भारत का भारतीय नाम नहीं है, एवरेस्ट का भारतीय नाम है: सरगमाथा, वे जो पहाड़ के आसपास रहने वाले लोग हैं, वो उसे सरगमाथा कहते हैं, तिब्बत से लेकर भूटान तक, लेकिन हमें इसका भी पता नहीं है कि एवरेस्ट की खोज कौन करेगा कौन चढ़ेगा उसका नाम भी क्या है, जिसको देखने में सिर स्वर्ग तक उठ जाय, लेकिन इस सरगमाथा पर चढ़ने को फ्रांस से, इन्गलैंड से, अमरीका से, रूस से युवक आते रहे भारत के युवक नही, सैकड़ों युवक आकर गिरे और मरे खो गये, और हमारे मुल्क के आदमी हँसते रहे कि ये लोग

पागल हैं, इस पर चढ़ने की जरूरत भी क्या है, लेकिन पश्चिम की जवानी को ऐसा लगता रहा कि जब तक सरगमाथा जीता नहीं गया, अविजित है, तब तक मनुष्य की यात्रा में कोई पड़ाव खाली है, ये कैसे हो सकता है कि मनुष्य वहां बिना पहुँचे रह जाय, वहां आदमी को पहुँचना भी होगा, वहाँ भी विजय का झंडा गाड़ना होगा। लेकिन हम हम गांव की पड़ौस की पहाड़ी पर भी चढ़ने नहीं जायेंगे हिन्दमहासागर में डुबकियें लगाने के लिये पश्चिम से लोग आते हैं, उसकी गहराई का पता लगाने के लिए, और हम, हम हंसेंगे कि इनका दिमाग खराब हो गया है, हम तो आई हुई नदी में उतरने को राजी नहीं होंगे। हम तो अंधेरी गली में भी जाने को तैयार नही होंगे। हमारी व्यक्तित्व की युवा होने की सारी संभावना खो गई हैं, युवा होने का अर्थ है: एडवेन्चर, युवा होने का अर्थ है: नये की खोज, और नये की खोज में जीवन को दांव पर लगाने की हिम्मत। आल्पस पर्वत पर प्रतिवर्ष हजारों विद्यार्थी चढ़ते हैं और चढ़ने में सैकड़ों विद्यार्थी मर जाते हैं प्रतिबार ये पता है कि चढ़ने में सैकड़ों विद्यार्थी मर जायेंगे, लेकिन इससे आल्पस पर चढ़ने की यात्रा बन्द नहीं होती, क्योंकि जिस दिन बच्चे आल्पस पर चढ़ने की आकांक्षा छोड़ देंगे, उस दिन युवक मर जायगा, तो कुछ मर जायेंगे, ये ठीक, लेकिन जवानी नही मरनी चाहिये और हम तो मरने से इतने भयभीत हैं, इतने डरे हुये हैं मरने से कि हमारी कल्पना में ही जीवन का एक अर्थ है कि मरने से किसी तरह बचे रहो। ये मैं आप से कहना चाहता हूँ कि जीवन का अर्थ उन्हीं को प्रगट होता है जो मृत्यु से जूझने को तैयार हो जाते हैं, जो मरने को तैयार होते हैं, वे ही केवल जीवन के रस को आनन्द को उपलब्ध कर पाते हैं, जो मरने से भयभीत हो जाते हैं, वो मरने से पहले जीवन में बहुत बार मर जाते हैं।

—विश्व विद्यालयीन वार्ता से सङ्कलित

द्वारा— **भीकमचंद चंदेरिया**

३८६, हनुमानताल, जबलपुर

जीवन क्रांति : एक बीज

● जीवन को खोजो अन्यथा मृत्यु आपको खोज रही है। वह प्रतिक्षण निकट आती जा रही है। जन्म के बाद प्रतिक्षण उसकी ही विजय का क्षण है। कुछ भी आप करो—केवल जीवन में प्रवेश छोड़कर—उसकी विजय सुनिश्चित है। संपत्ति, शक्ति या यश—सभी उसके समक्ष निर्जीव छायाओं की भांति हैं। उसकी मौजूदगी में वे सब व्यर्थ हो जाते हैं। स्वयं की सत्ता—स्व-अस्तित्व की अनुभूति ही केवल अमृत है। वही और केवल वही मृत्यु के बाहर है क्योंकि समय के बाहर है। समय में जो कुछ भी है, सभी मरणधर्म हैं। समय मृत्यु की गति है, उसके ही चरणों का वह माप है। समय में दौड़ना मृत्यु में दौड़ना है। और सभी वहीं दौड़े जाते हैं। मैं सभी को, अपने ही हाथों मृत्यु के मुंह में दौड़ते हुये देखता हूं। ठहरो और सोचो। आपके पैर आपको कहां लिये जा रहे हैं? आप उन्हें चला रहे हो या कि वे आपको चला रहे हैं?

संकलन : श्री रवीन्द्र सिंह ठाकुर

• धर्म और राजनीति

[आचार्य-श्री के. मौलिक क्रांतिकारी प्रवचन से]

जिस दिन धर्म ऐसे साधु पैदा करेगा जो सैनिक भी हो सकते हैं, जिस दिन धर्म ऐसे संत पैदा करेगा जो सत्ता पर भी पैर रखकर जीवन को संचालित कर सकते हैं, तभी हम जीवन को भी बदलने में समर्थ हो सकते हैं।

धर्म जीवन को जीने की कला है, जीवन को जीने का विज्ञान है। हम जीवन को उसको पूरे अर्थों में कैसे जियें, धर्म उसकी खोजबीन है। धर्म यदि जीवन कला की आत्मा है तो राजनीति जीवन कला का शरीर है। धर्म अगर आकाश है जीवन का तो राजनीति पृथ्वी है। न आत्मा अकेली हो सकती है, न शरीर अकेला हो सकता है। शरीर न हो तो आत्मा अदृश्य हो जाती है और खो जाती है और आत्मा न हो तो शरीर सड़ जाता है, दुर्गन्ध देने लगता है। धर्म के बिना राजनीति सड़ा हुआ शरीर हो जाती है.....लेकिन स्मरण रहे राजनीति से विहीन धर्म भी अदृश्य हो जाता है और विलीन हो जाता है। इससे धर्म और राजनीति पर कुछ कहने के पहिले उन दोनों के बीच के एक आंतरिक संबंध को समझ लेना जरुरी है। जीवन में जो सक्रिय सत्ता है, जीवन को बदलने का जो सक्रिय आन्दोलन है, जीवन को चलाने और निर्मित करने की जो व्यवस्था है, उस सबका नाम राजनीति है। राजनीति के भीतर अर्थ भी है, शिक्षा भी है। राजनीति के भीतर हमारे पारिवारिक संबंध भी हैं। राजनीति के भीतर हमारे जीवन के सारे अंतःसंबंध हैं, लेकिन भारत का दुर्भाग्य समझा जाना चाहिये कि हजारों वर्षों से भारत में राजनीति और धर्म के बीच कोई संबंध नहीं रहा। भारत में राजनीति और धर्म दोनों जैसे विरोधी एक दूसरे की तरफ पीठ किये खड़े हों और यह आज की ही बात नहीं है हजारों वर्षों से ऐसा हुआ है और इसका दुष्परिणाम भी हमने भोगा है। एक हजार वर्ष की गुलामी उसका दुष्परिणाम है। हिन्दुस्तान गुलाम हुआ क्योंकि हिन्दुस्तान के धार्मिक लोगों के मन में ऐसा नहीं लगा कि उन्हें कुछ करना है। धर्म का राजनीति से कोई संबंध न था। धार्मिक आदमी को लगता था, "कोई हो नृप हमें क्या हानि" कोई भी हो राजा हमें क्या प्रयोजन है। कोई भी हो सत्ता में, हमें क्या विचार की बात है। धर्म को हमने हजारों वर्षों से राजनीति निरपेक्ष बना दिया है। इसका बदला हिन्दुस्तान की राजनीति ने अभी-अभी लिया है। उसने राजनीति को धर्म निरपेक्ष बना दिया है। हजारों वर्षों तक हिन्दुस्तान का धर्म राजनीति निरपेक्ष था उसका एक ही परिणाम होने को था और अंतिम परिणाम यह हुआ कि हिन्दुस्तान की राजनीति अब धर्म निरपेक्ष है। हजारों वर्षों तक धार्मिक आदमी कहता रहा कि राजनीति से हमें कुछ नहीं लेना देना है और राजनीति ने अभी २० साल पहले उसका बदला दिया और उसने कहा—धर्म से हमें कुछ नहीं लेना देना है। कोई राजनीति धर्म निरपेक्ष कैसे हो सकती है? राजनीति के धर्म निरपेक्ष होने का क्या अर्थ हो सकता है। एक ही अर्थ हो सकता है कि जीवन में जो भी महत्वपूर्ण है, जो भी श्रेष्ठ है राजनीति को उससे कोई प्रयोजन नहीं। मनुष्य के तो ऊंचे उठने की जो भी संभावनायें हैं, राजनीति उसके संबंध में कोई भी सक्रिय भाग अदा नहीं करना चाहती। धर्म से निरपेक्ष होने का क्या अर्थ होता है। सत्य से निरपेक्ष होना, प्रेम से निरपेक्ष होना, जीवन से, गहनतम ज्ञान से, निरपेक्ष होना। कोई भी राजनीति अगर धर्म से निरपेक्ष होगी तो वह मनुष्य के शरीर से ज्यादा गहरा प्रवेश नहीं कर सकती और जो समाज केवल शरीर के आसपास जीने लगता है उस समाज के जीवन में उसी तरह की दुर्गन्ध पैदा हो जायेगी जैसे मरी हुई लाश में पैदा हो जाती है। इधर २० वर्षों में आजादी के बाद भारत का सारा जीवन दुर्गन्ध से भर गया, कुरुपता से, ग्लानि से, दुख और पीड़ा से। शायद मनुष्य जाति के इतिहास में कोई भी देश स्वतंत्र होकर इस भांति कभी पतित नही हुआ है। ये दुर्घटना कैसे घट सकी? ये दुर्घटना घट सकी इसलिये कि जीवन को ऊंचे उठाने वाले जो भी सिद्धांत हैं, उन सब सिद्धांतों का इकट्ठा नाम धर्म है और हमारे देश की राजनीति धर्म के प्रति निरपेक्ष है। धर्म का उससे कोई प्रयोजन नहीं।

लेकिन राजनीतिज्ञों को ये दोष देना गलत होगा अगर हम पुराना इतिहास उठाकर न देखें कि हिन्दुस्तान के धार्मिक लोगों ने भी राजनीति के साथ इतना ही गलत व्यवहार किया है। वे आज तक यह कह रहे थे कि धर्म राजनीति से निरपेक्ष है, राज्य गुलाम हो कि स्वतंत्र, देश दुष्टों के हाथ में जाये कि अच्छे लोगों के हाथ में जाये, कि कौन हुकूमत करे कि किस भांति हुकूमत करे.....धार्मिक आदमी को कोई प्रयोजन न था। एक हजार वर्ष तक मुल्क गुलाम था और हिन्दुस्तान के साधु सन्यासियों ने जरा भी इस गुलामी को उखाड़ फेकने के लिये कोई प्रयास नहीं किया। एक हजार वर्ष की लम्बी गुलामी के इतिहास में हिन्दुस्तान के संत ने एक बार भी ये आवाज नहीं दी कि इस मुल्क को आजाद होना है, क्योंकि वह कहता था कि हमें राजनीति से क्या प्रयोजन। आश्चर्य की बात है कि अच्छे लोगों को गुलामी बुरी नहीं मालूम पड़ी, आश्चर्य की बात है कि मुल्क की छाती पर दुश्मन सवार रहा, मुल्क का खून दुश्मन पीता रहा और मुल्क के साधू-सन्यासी स्वर्ग और परलोग की चर्चायें करते रहे। मन्दिरों में बैठकर निमित्त महत्वपूर्ण है कि उपादान.....इस पर वे विचार करते रहे। कि कितने नर्क होते हैं ७ की ८ कि देवताओं के कितने रुप हैं कि सिद्ध भगवान का क्या स्वरुप है, इस संबंध में वे विचार करते रहे और मुल्क गुलाम और पतित होता चला गया। हिन्दुस्तान गुलाम रहा आया क्योंकि हिन्दुस्तान के धार्मिक लोगों के मन में ऐसा नहीं लगा कि उन्हें कुछ करना है। धर्म का राजनीति से कोई संबंध न था। एक हजार वर्ष तक हिन्दुस्तान के साधुओं और सन्यासियों और धार्मिक लोगों ने हिन्दुस्तान के भाग्य को बदलने के लिये कुछ भी नहीं किया। स्वाभाविक था कि जब धर्म इतना निरपेक्ष रहा हो राजनीति से तो जब राजनीति मुल्क में सत्ता में आई तो उसने कहा कि धर्म से हमें क्या लेना देना है, धर्म से हमको कुछ भी लेना देना नहीं है। ये बदला था। लेकिन गलत चीज का बदला भी कभी सही नहीं होता है, बदला भी गलत होता है। गलत चीज का जो बदला लेते हैं, वो भी गलत होते हैं। पुनः अब विचारणीय हो गया है कि हम अपनी मनःस्थिति को पुनः तोल लें और विचार लें कि राजनीति और धर्म को इतने दूर रखना हितकर है। क्या यह उचित है, क्या यह योग्य है? ये योग्य क्यों मालुम पड़ा राजनीतिज्ञों को ये सहूलियत की बात थी कि धर्म राजनीति से दूर रहें। क्योंकि जैसे ही राजनीतिज्ञ के सामने धर्म के प्रतीक खड़े हो जाते हैं, राजनीतिज्ञ को नीचे गिरने की आसानी कम हो जाती है... धर्म एक चुनौती है ऊपर उठने के लिये, धर्म एक पुकार है कि निरंतर ऊपर उठते रहो, धर्म एक आवाहन है कि मनुष्य को ऊंचे से ऊंचे शिखरों पर चढ़ना है। राजनीतिज्ञ नहीं चाहता कि धर्म से राजनीति का कोई संबंध हो क्योंकि जैसे ही धर्म से राजनीति का संबंध होता है राजनीतिज्ञ को अपने भीतर आमूल परिवर्तन करने की आवश्यकता पड़ जाती है। जैसे ही धर्म राजनीति में संबंधित होगा वैसे ही राजनीतिज्ञ को अपने को बदलना पड़ेगा। राजनीतिज्ञ नहीं चाहता कि धर्म का कोई संबंध राजनीति से हो। क्योंकि जब धर्म से कोई संबंध नहीं होता तो उसे षडयंत्र करने, उसे निम्नतम व्यवस्था देने.....उसे चोरी और बेईमानी और असत्य का उपयोग करने की पूर्णतम सुविधा उपलब्ध हो जाती है। उसके पीछे कोई भी आवाहन नहीं रह जाता कि वह ऊपर उठे। राजनीति धर्म से अलग होकर सिर्फ कूटनीत रह जाती है, राजनीति नहीं रह जाती। वह पालिटिक्स नहीं होती, सिर्फ डिप्लोमेसी होती है। वहाँ झूठ और सच में कोई फर्क नहीं रह जाता। हिटलर ने अपने कमरे के ऊपर लिख रखा था कि 'सत्य के अतिरिक्त और कोई नियम नहीं हैं।' (Truth is the Only Law) यह वह अपने कमरे के बाहर लिखा हुआ था और हिटलर से ज्यादा झूठ बोलने वाला आदमी पृथ्वी पर कभी नहीं हुआ। एक मित्र उसके घर ठहरा हुआ था, उसने हिटलर को पूछा कि आप लिखे हुये हैं कि (Truth is the Only Law) सत्य एकमात्र नियम है.....आप? हिटलर ने कहा कि हाँ 'मैं' जिसे झूठ बोलना हो उसे घोषणा करनी पड़ती है कि सत्य एकमात्र नियम है। अगर झूठ ठीक से बोलना है तो सत्य की बातें करना जरुरी है। ये तो सीधी राजनीति है हिटलर ने कहा।

राजनीति अगर जीवन के उच्चतम उसूलों की तरफ आकर्षित नहीं है, तो वह निम्नतम उसूलों के आधारों पर जियेगी, इसमें कोई सन्देह नहीं है। एक बात ध्यान में रख लेना जरूरी है कि जिसके जीवन में ऊंचे से पुकार नहीं आती उसके जीवन में नीचे से पुकार आनी शुरू हो जाती हैं। जीवन में दो तरह की पुकारें हैं: एक पुकार है मनुष्य के ऊपर से आनेवाली,पुकार है पहाड़ों से आनेवाली। मनुष्य ने एक यात्रा पूरी की है पशुओं के साथ और मनुष्य को एक यात्रा करना है परमात्मा के द्वार तक। ऊपर से आने वाली पुकार उसे परमात्मा तक ले जाती है। नीचे

से आने वाली पुकार पशुओं की पुकार है जो उसके भीतर छिपी हुई है। जो राजनीति ये कहेगी कि धर्म से हमारा कोई संबंध नहीं है, वह मनुष्य के निम्नतम जो वृत्तियां हैं, उनका खुला खेल हो जाती हैं, राजनीतिज्ञ सदा चाहता है कि धर्म से दूर रहे, क्योंकि धर्म के सामने उसे आत्मग्लानि होना शुरू हो जाती है। कुरूप आदमी नहीं चाहता कि आइने लगे हों मकान में : द्वार - द्वार पर दरवाजे दरवाजे पर बड़े - बड़े दर्पण लगे हों : ये कुरूप आदमी नहीं चाहेगा क्यों कुरूप आदमी के सामने दर्पण का आ जाना बहूत दुखद हो जाता है उसे बार बार कुरूपता पीड़ा देने लगती है। धर्म एक दर्पण बन जाता है राजनीतिज्ञ के सामने। धर्म के सामने खड़े होकर उसे बार बार लगने लगता है कि मैं क्या हूँ? मैं कैसा हूँ? मैं कैसा गलत हूँ? राजनीतिज्ञ चाहता है कि धर्म से छुटकारा हो, राजनीतिज्ञ नहीं चाहता कि धर्म से संबंध रहे क्योंकि धर्म दर्पण बन जाता है और उसमें राजनीतिज्ञ के सारे विकार और सारे केंसर दिखाई पड़ने शुरू हो जाते हैं। इसीलिये राजनीतिज्ञ खुश है कि धर्म से हमारा कोई संबंध नहीं है और जो कमजोर धार्मिक हैं वो भी नहीं चाहते कि राजनीति से उनका कोई संबंध हो, क्योंकि जो कमजोर धार्मिक हैं वे हमेशा उन चीजों से भयभीत होते हैं जहां उनकी कमजोरी टूट जाने का डर होता है, अगर एक कमजोर ब्रम्हचारी है तो वह स्त्रियों से सदा भयभीत होगा। अगर एक कमजोर अपरिग्रही है तो वह धन के डरेगा कि कहीं आसपास कोई धन दिखाई न पड़ जाये। अगर एक कमजोर व्यक्ति है जिसका त्याग कमजोर है और जबरदस्ती त्याग किये है तो वह हमेशा डरेगा कि कहीं सत्ता हाथ में न आ जाये। कमजोर आदमी हमेशा उस अवसर से डरता है जिसमें उसकी कमजोरी टूट सकती है। जिस आदमी ने उपवास किया है और जबरदस्ती उपवास किया है वह भोजनालय के पास से निकलने में बहुत डरेगा लेकिन जिस आदमी की आत्मा से उपवास आया है उसके भोजनालय में भी बैठे रहने में कोई भय नहीं है, भय का कोई कारण नहीं है। लेकिन जिस आदमी ने जबरदस्ती उपवास कर लिया है और पूरे प्राणों में एक ही पुकार है कि भोजन... भोजन। उपवास करने वाले इसीलिये दिन भर मंदिरों में समय गुजारते हैं, ताकि भोजनालय से जितना दूर रहा जाये, भोजन का ख्याल भी न आये : ऐसी जगह बैठकर समय गुजार देना है। क्योंकि भीतर तो भोजन का स्मरण आ रहा है। भोजन का जिसके मन में भय है और उपवास कर लिया है, ऐसा आदमी कमजोर है। और इस कमजोरी से वह भोजन से भयभीत होगा और डरेगा।

कमजोर धार्मिक राजनीति से सदा डरेंगे। क्योंकि उन्हें मालूम है कि उनके हाथों में ज्योंही शक्ति आई कि उनकी सारी धार्मिकता बह जायेगी। और उनके भीतर जो असली आदमी है, बुरा आदमी छिपा है, वह प्रगट हो जायेगा। बुरा आदमी हमेशा ताकत में प्रगट होता है, कमजोरी में कभी प्रगट नही होता। बुरे आदमी के प्रगट होने के लिये ताकत चाहिये। एक आदमी है.....गरीब आदमी और वह कह सकता है कि मुझे महलों से कोई प्रयोजन नहीं है : लात मार सकता हूं महलों को, क्योंकि महल उसके पास नहीं लेकिन कल अगर उसे महल मिलने की सुविधा उपलब्ध हो जाये फिर बहुत मुश्किल होगा यह कहना कि मैं महलों को लात मारता हूं। फिर पता चलेगा उसे कि यह बहुत कठिन है। पैसे पास में न हों तो धन को गाली दी जा सकती है लेकिन धन पास में हो तब धन का उपयोग करने का मन होता है, धन को गाली देना मुश्किल होता है। जिन लोगों के पास धन था और धन को वे छोड़ सके, उन लोगों के धर्म में तो कोई बल था, महावीर के धर्म में कोई बल रहा होगा। राज्य था हाथ में उसे लात मार सके। उसमें तो कोई बल रहा होगा, लेकिन जिनके हाथ में राज्य नहीं है, वे बहुत भयभीत होते हैं। फिर अगर राज्य हाथ में आ जाये तो उनके भीतर जो बुरा आदमी छिपा होता है वह पुनः प्रगट होना शुरू हो जायेगा। उसके पास ताकत नहीं है, इसके लिये वह दबा हुआ है। अगर उसके हाथ में ताकत आ जायेगी तो वह प्रगट होगा। तो धार्मिक आदमी.....कमजोर धार्मिक आदमी भी डरता है कि सत्ता से जितना दूर रहें उतना अच्छा। हम अभी भी देख चुके हैं कि गांधी जी के पीछे चलने वालों की एक अच्छी जमात थी। वे अच्छे लोग थे, हिन्दुस्तान ने कभी कल्पना भी न की थी कि ये सारे लोग बुरे साबित होंगे। जब तक उनके हाथ में सत्ता न थी ये जेल जाते थे और झोली लगाकर गांवों में क्रांति का नारा देते थे, तब तक उनके भीतर सचाई और अच्छे आदमी के दर्शन हुये थे और कोई यह नहीं कह सकता कि ये लोग बुरे थे, वे लोग अच्छे मालूम पड़ते थे। लेकिन ये लोग कमजोर अच्छे

आदमी थे। ताकत आते ही अच्छाई चली गई और बुराई प्रगट हो गई। हिन्दुस्तान का २० साल का इतिहास यह बताता है कि कमजोर अच्छे आदमी को ताकत मिलने पर उसकी कमजोरी प्रगट हो गई और अच्छाई बह गई। जैसे ही उनके हाथ में ताकत आई, दिल्ली का सिंहासन आया, वे वैसे ही साधारण आदमी साबित हुये जैसे दूसरे कोई भी आदमी साबित होते। बल्कि एक बात आश्चर्यजनक हुई कि वे साधारण आदमी से भी बुरे साबित हुये। और उसका एक ही कारण था कि भीतर सच्चाई नहीं थी। सचाई ऊपर से ओढ़ी गई थी। सचाई ऊपर से सीखी गई थी, सचाई ऊपर से ढाकी गई थी। भीतर...भीतर एक साधारण आदमी था, कमजोर आदमी वासनाओं से भरा हुआ आदमी। ऊपर से एक अच्छा आदमी बन गया, भीतर काला आदमी था। वे खादी के सफेद कपड़े सब ऊपर से थे। उन सफेद कपड़ों ने भीतर के काले आदमी को छिपाने में सुविधा दी थी, लेकिन उसे मिटा नहीं सके थे। कोई कपड़ा भीतर के आदमी को नहीं मिटा सकता। भीतर का आदमी मिट जाये तो काले कपड़ों से भी उसकी रोशनी प्रगट होना शुरू हो जाती है, जो भीतर है। और भीतर अगर काला आदमी बैठा हो तो सफेद से सफेद कपड़े भी रुकावट डालने में असमर्थ हैं, लेकिन ऊपर से धोखा पैदा होता है कि सफेद कपड़े पहननेवाला आदमी जरूर अच्छा आदमी होगा लेकिन जब तक उसके हाथ में ताकत नहीं है तब तक यह भ्रम पाला जा सकता है। हाथ में ताकत आते ही उसके सफेद कपड़े इतने मजबूत नहीं हैं कि उसके भीतर के असली आदमी को रोकने में समर्थ हो जायें।

दुनियां के सारे कमजोर धार्मिक आदमी सदा भयभीत रहे हैं सत्ता उनके हाथ में न आ जाये। इसीलिये उन्होंने कहा है कि राजनीति : राजनीति से हमको कुछ नहीं लेना है। धर्म अलग बात है, राजनीति अलग बात है। राजनीतिज्ञ डरता है धर्म से, धार्मिक डरते हैं राजनीति से। और इसलिये दुनियां में एक रिपट, एक खाई पैदा हो गई है। धर्म और राजनीति के बीच मैं आपसे कहना चाहता हूं कि जब तक ये खाई है तब तक अच्छी दुनियां निर्मित नहीं की जा सकती है...क्यों ? अच्छी दुनियां दो कारणों से निर्मित नहीं हो सकती। एक : जो राजनीति धर्म के आदर्शों से प्रभावित नहीं होगी, वह मनुष्य को कहां ले जायेगी ? वह कहां ले जा सकती है ? किस यात्रा में मनुष्य को प्रवेश करायेगी ? मंजिल क्या है ? उसके पास कोई मंजिल नहीं है। वह राजनीति पागल आदमी की तरह है जो दौड़ता तो बहुत है लेकिन अगर उससे पूछें कि कहां जा रहे हो वह कहने में असमर्थ है कि मैं कहां जा रहा हूँ। मुझे पता नहीं है, वो कहेगा कि मुझे रोको मत। मुझे जल्दी है, मुझे जाने दो। और अगर हम उससे कहें कि तुम कहां जा रहे हो तो कहेगा कि मुझे इसके लिये समय नहीं है। मुझे पता भी नहीं है कि मुझे कहां जाना है लेकिन मुझे रोको मत, मैं जल्दी में हूं मुझे कहीं जाना है। राजनीति जो धर्म के बिना है, भागती हुई दिखाई पड़ेगी, लेकिन कहाँ ? उसे जाना कहां है ? क्योंकि जीवन की मंजिल तो धर्म है। जीवन में जो भी मंजिल है उसी का नाम धर्म है, जीवन को जहां पहुंच जाना चाहिये उसका नाम धर्म है। ऐसी राजनीति कोल्हू के बैल की तरह वहीं वही घूमकर वापिस लौट आयेगी, जहां से उसने चलना शुरु किया था क्योंकि जिस आदमी को यह पता नहीं है कि मुझे कहां जाना है उसका सब जाना एक चक्कर में होता है, वह चक्कर में घूमता है और वापिस लौट आता है। नहीं राजनीति धर्म के अभाव में कहीं भी नहीं ले जा सकती है। और ये भी मैं आपको कह दूं कि धर्म भी राजनीति के बिना जीवन को बदलने में एकदम नपुन्सक साबित होता है। क्योंकि जिंदगी को बदलना है तो शिक्षा बदलना पड़ेगी, जिंदगी बदलनी है तो जीवन के सारे कानून बदलने पड़ेंगे। गलत हो शिक्षा, गलत हो अर्थ की व्यवस्था. गलत हो जीवन के सारे नियम और धर्म चिल्लाता रहे कि लोगों को अच्छा होना चाहिये तो वह चिल्लाहट अंधेरे में खो जायेगी और आदमी अच्छा नहीं हो सकेगा। जिस समाज मे बुराई केलिये पुरुस्कार मिलता हो और अच्छाई के लिये पाप जैसा भुगतान भोगना पड़ता हो तो समाज में धर्म कितना ही चिल्लाता रहे कि लोगों को अच्छा होना चाहिये तो भी लोग अच्छे नहीं हो सकेंगे।

धर्म तभी जीवन की व्यवस्था बदल सकता है जब राजनीति से भयभीत न हो, भागे न, पलायनवादी (Escapist) न हो, वह यह न कहे कि हम भाग जायेंगे, जिस दिन धर्म ऐसे साधु पैदा करेगा जो सैनिक भी हो सकते हैं, जिस दिन धर्म ऐसे संत पैदा करेगा जो सत्ता पर भी पैर रखकर जीवन को संचालित कर सकते हैं तभी हम जीवन को बदलने में समर्थ हो सकते हैं, अन्यथा नहीं। गांधी ने एक हिम्मत की थी और इस लिहाज से गांधी का

नाम दुनिया में एक विशेष आदर से लिया जाना चाहिये। गांधी शायद दुनिया के वो पहले धार्मिक आदमी थे जिन्होंने राजनीति से भागने की कमजोरी जाहिर नहीं की। जिन्होंने हिम्मत के साथ खड़े होकर एक संघर्ष किया। हिन्दुस्तान के साधु संतों को यह बहुत बुरा लगा हिंदुस्तान के साधु संतों को लगा कि ये कैसा महात्मा है, ये कैसा धार्मिक आदमी है। नहीं ये धार्मिक आदमी नहीं हो सकता जो राजनीति के बीच में खड़ा है...ये कैसा धार्मिक आदमी है? धार्मिक आदमी तो हम उसे कहते हैं जो राजनीति से भाग जाता है जो राजनीति को छोड़ देता है। ये महात्मा गांधी कैसे धार्मिक आदमी हैं। हिन्दुस्तान के लोगों को बहुत मुश्किल से यह स्वीकृत हो पाया कि गांधी धार्मिक आदमी हैं। गांधी ने एक बड़ी हिम्मत की। लेकिन वह हिम्मत भी अधूरी पड़ गई और मरने के पहले गांधी पूरी हिम्मत नहीं जुटा पाये और उनकी कमजोरी अंत अंत में प्रकट हो गई। हिन्दुस्तान को जब राज्य मिला तब गांधी के मन में हिन्दुस्तान की वह पुरानी आदत फिर बल पकड़ गई और गांधी ने खुद सत्ता न लेकर दूसरों के हाथों में सत्ता देकर भारत का जो अहित किया है उसको हजारों साल तक पूरा नहीं किया जा सकता। अगर गांधी को हिन्दुस्तान की ताकत मिली थी और गांधी अगर स्वयं सत्ता में गये होते तो हिन्दुस्तान का भाग्य दूसरा हो सकता था। ये जो हमने पतन की २० सालों की लंबी कथा देखी, ये जो हमने नरक की यात्रा देखी, ये जो आदमी का चरित्र रोज-रोज नीचे गिरते देखा, हो सकता था कि गांधी स्वयं सत्ता में होते तो यह नहीं हो पाता, लेकिन अंतिम क्षणों में गांधी हिम्मत खो गये और वो पुराने हिन्दुस्तान का जो महात्मा है और जो हिन्दुस्तान की पुरानी आदत, वो जो राजनीति को हमेशा गाली देनेवाला चित्त है। आखिर में जब सत्ता गांधी के हाथ में आई तो वे डवांडोल हो गये।

(समापन अगले अंक में...)

उनके सामने दो ही विकल्प थे, या तो उन्हें हिन्दुस्तान की नजरों में सदा के लिये धार्मिक होने की हिम्मत छोड़नी पड़ती, धार्मिक होने का ख्याल छोड़ना पड़ता। इस बात का डर था कि हिन्दुस्तान फिर शायद उनको महात्मा न कहता। और जब गांधी ने सत्ता छोड़ दी तो हिन्दुस्तान के लोग बहुत खुश हुये और हमने जगह जगह यह कहा कि ये है सच्चा महात्मा इतनी बड़ी ताकत आई और उन्होंने सिंहासन पर लात मार दी, लेकिन हमें पता नहीं था वो गांधी का सिंहासन पर लात मारना हमारे भाग्य पर लात मारना सिद्ध होगा। हम ऐसे अभागे लोग हैं कि हम अपने दुर्भाग्य की निरंतर प्रशंसा करते हैं। हिन्दुस्तान में अगर थोड़ी सी समझ होती तो हिन्दुस्तान भर में उपवास किये जाने चाहिये थे। अनशन किये जाने चाहिये थे। गांधी के खिलाफ और सारे हिन्दुस्तान को जोर डालना था कि एक अच्छे आदमी के हाथ में ताकत जा सकती है, तो आप सत्ता में बैठें। हम किसी और को सत्ता नहीं देना चाहते। लेकिन हिन्दुस्तान ये न कर सका क्योंकि हिन्दुस्तान की पुरानी आदत, उसको बहुत अच्छा लगा कि ये महात्मा हैं, वो कैसे सत्ता में जा सकते हैं। बल्कि हम खुश हुये और हमने गांधी की प्रशंसा की। सारे देश को गांधी पर दबाव डालना था कि चाहे तुम महात्मा-पन को छोड़ दो लेकिन हिन्दुस्थान को एक मौका मिला है, अच्छे आदमी के हाथ में आने का, उसे हम नहीं छोड़ना चाहते। चाहे तुम्हें नरक जाना पड़े और तुम्हारा मोक्ष छूट जाये तो इसकी फिकर मत करो.....इस गरीब मुल्क के लिये; इस दीन-हीन मुल्क के लिये इतना त्याग और कर दो एक दफे और जन्म ले लेना और तपश्चर्या कर लेना। लेकिन हिन्दुस्तान के एक भी आदमी ने यह नहीं कहा क्योंकि हिन्दुस्तान की मूर्खता बहुत पुरानी है, बहुत प्राचीन है।

सकलन—
श्री श्यामनारायण चौकसे
सिविल इन्जी०
जबलपुर

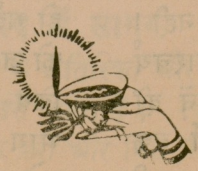

• नारी जगत

मनुष्यता और नारी

• अतीत में अधूरी और एकांगी सभ्यता का निर्माण हुआ है—

नारी का पिछले हजारों वर्षों से पृथ्वी पर न कोई सम्मान ही था, न ही उसकी अपनी कोई प्रतिष्ठा ही थी। कुछ धर्मों ने तो उसे 'नरक का भी द्वार' कहा। नारी को अतीति के युग ने सम्पति से भिन्न नहीं स्वीकार किया और शायद इसीलिये उसे 'स्त्री-धन' भी कहा गया है। उसकी अपनी कोई क्षमता अपने अधिकार नहीं थे। अवश्य कुछ अधिकार थे जैसे विधवा होने का अधिकार, सती होने का अधिकार आदि...। पुरुष ने अग्निदाह के आयोजन किये। क्या किसी जीव को अग्नि में झोंक देना, मूढ़तापूर्ण बात नहीं है, अतीति ने यही किया और हमने इसे 'सती' होना कहा है। इतना ही नहीं सती होना तो फिर भी ठीक है, ठीक है इन अर्थों में कि आगे एक बार ही पीड़ा का आयोजन है, लेकिन विधवा ? विधवा होना पीड़ा की, मृत्यु की लम्बी यात्रा है। अतीति में जो दुनियां निर्मित हुई है वह नारी के योगदान से बंचित रही है परिणाम स्वरूप अधूरी और एकांगी सभ्यता का निर्माण हुआ। इसमें उन पुरुषों की भूल है जिन्होंने नारी को गुलाम समझा।

• अतीति में नारी को गुलाम समझा गया है—

मैंने कहा अधूरी सभ्यता का निर्माण हुआ है ? क्यों ? क्योंकि अतीत की सभ्यता के सृजन में नारी का कोई योगदान नहीं रहा। नारी को गुलाम समझा गया। और गुलाम फिर कैसे सहयोग दे सकता है। स्मरण रहे गुलाम से कार्य लिया जा सकता है, लेकिन सहयोग नही। सदियों से नारी को गुलाम समझा गया, तो कोई आश्चर्य की बात भी नहीं है कि गुलाम नारी ने जो सन्तानें दीं वे गुलाम रहीं और गुलामों ने यदि हजारों वर्षों तक आजादी की मांग नही की तो इसमें क्या आश्चर्य। नारी पर अतीत में दासता का बन्धन रहा, वे इसके विपक्ष में कोई सामूहिक विद्रोह तो न कर सकीं लेकिन सारी दुनियां के परिवारों में जो कलह झगड़े और तलाक जैसी कमजोरियों ने जन्म लिया है, उसका कारण है— उनके ऊपर की जा रही लम्बी दासता— जिसके विरोध में व्यक्तिगत कमजोरियां पनप रहीं हैं। मैंने आज तक ऐसा परिवार नहीं देखा है, जिसे प्रेम का मन्दिर कहा जा सके। और स्मरण रहे कि स्त्री और पुरुष के आपसी सम्बन्धों का टूटना इस ओर संकेत का दिया जाना है कि सारी मनुष्यता खंडित होने के समीप है।

अतीत ने एक भूल की कि नारी को दासी और गुलाम समझा। दूसरी भूल वर्तमान युग में नारी के साथ की रही है जिसके परिणाम और भी घातक और खतरनाक है।

• वर्तमान में नारी पुरुष होने में लगी है—

सारी दुनियां में आन्दोलन उठा है कि स्त्री पुरुष के समान है। और पुरुषों के द्वारा किये जाने वाले कार्य स्त्रियों ने शुरू कर दिये हैं। एक नई पीड़ा की शुरूवात हुई है, कि नारियों के मन में पुरुषों जैसे होने का ख्याल पैदा हुआ है। पुरुषों जैसी शिक्षा नारियों को दी जा रही है। उसके ममता भरे चित्त को वर्तमान शिक्षा ने एकदम गड़बड़ और विकृत कर दिया है। और इस शिक्षा ने स्त्री में अपूर्ण पुरुष तो पैदा कर दिया लेकिन स्त्री की अपनी पूर्णता उससे च्युत हो गई। पुरुषों जैसे बनने की दौड़ ने एक घातक विकृति को जन्म दिया है। स्त्रियों ने पुरुषों जैसे कपड़े पहिनने शुरू किये हैं। पुरुषों जैसे कार्यों में पदों में भाग लेना शुरू किया है। इस भांति नारी दूसरी भूल की ओर बढ़ रही है।

• वर्तमान शिक्षा ने नारी के व्यक्तित्व को खंडित कर दिया है—

शिक्षा मनुष्य के व्यक्तित्व को विकसित करती है। शिक्षा मनुष्य की जीवन दिशा निर्धारित करती है और शिक्षा मनुष्य के निर्माण में सहायक होती है लेकिन वर्तमान शिक्षा में जो व्यक्ति दीक्षित हो रहे हैं वे एकदम अपूर्ण हैं। स्त्री की शिक्षा के साथ भी यही भूल हुई है। हम उसे कवायत सिखा रहे हैं, गणित सिखा रहे और न जाने उसे क्या क्या सिखाया जा रहा है, जिससे वह केन्द्र से दूर होती जा रही है और उसकी आत्मा टूटती जा रही है। गणित और कवायत से चलने वाली दुनियां एक तरह की होगी, लेकिन संगीत काव्य और भावनाओं से सृजित दुनियां एक अलग तरीके की होगी।

स्त्री को स्त्री होने की शिक्षा दी जाय—

स्त्री को शिक्षा की आवश्कता है। एक ऐसी शिक्षा की आवश्यकता उसे है जो उसमें अन्तर्निहित ममता, प्रेम, काव्य, संगीत और भावनाओं को विकसित होने दे। मेरे, मित्रो इसलिये मैं कह रहा हूं कि पूर्ण स्त्री का निर्माण स्त्री होने की शिक्षा के द्वारा ही संभावित है यदि ठीक ठीक सभ्यता निर्मित करना है तो उसे पुरुष होने से बचायें। स्त्री को स्त्री जैसे विकसित होने दें। उसे पुरुष के समान न समझें उसकी प्रतिभा व्यक्तित्व पुरुष से एक दम भिन्न है। पुरुष को पूर्ण पुरुष होने की और नारी को पूर्ण नारी बनने की शिक्षा में दीक्षित किया जाना चाहिये। नारी के ममता भरे चित्त में तड़फ है, वेदना है। पिछली सभ्यता के निर्माण में नारी का योगदान होता तो जमीन पर इतने दुखदायी एवं विनाशकारी युद्ध न लड़े जाते। नारी हृदय किसी को मरने देने के लिए कभी राजी नहीं हो सकता। पर हमारी शिक्षा स्त्री के स्त्रीत्व से अलग करते हुए उसे पुरुष बनाने में लगी है। पुरुष जैसे होने की शिक्षा ने दूसरा खतरा पैदा किया और सभ्यता में वही अधूरा पन है।

(जीवन जागृति केन्द्र के तत्वाधान में शहीद स्मारक भवन जबलपुर में हुआ आचार्य श्री का एक प्रवचन)

• कल स्त्री गुलाम थी आज पुरुष होने में लगी है—

दो बहुत बड़ी भूलें अतीत और वर्तमान की सभ्यता और संस्कृति के साथ हुई हैं। कल स्त्री गुलाम थी और आज स्त्री को पुरुष होने की दौड़ में लगा दिया गया है। स्त्री की सृजनात्मक शक्ति को इन दोनों स्थितियों में बहुत बड़ा खतरा है। जिन मुल्कों में स्त्रियों को पुरुषों जैसे होने की शिक्षा दी गई है वहां मानसिक बीमारियों की संख्या बहुत अधिक तादाद में बढ़ी हैं। मनुष्यता से शांति के स्थल टूटते जा रहे हैं और यदि मनुष्य जाति को बचाना है तो नारी को न गुलाम समझे और उसे पुरुष जैसे होने की होड़ में खड़ा होने दें। सभी को 'समानता' का अधिकार दिया जाना चाहिए। समानता से मेरा अभिप्राय और अर्थ स्त्री को स्त्री जैसे विकसित होने के पूर्ण अधिकार दिये जाने से है।

• मनुष्यता के स्सृजन में नारी का बहुत बड़ा हाथ है–

स्त्री के ममता भरे चित्त में जो अन्तर्निहित गुण है उनको विकसित होने दिया जाय तो नई मनुष्यता को जन्म दिया जा सकता है। स्त्री और पुरुष को अपने अपने गुणों में दीक्षित होना चाहिए। मनुष्यता को बदलने के लिए, नारी और पुरुष को अपनी अपनी दुनियां दे— उन्हें अपने गुणों में विकसित होने दें। स्मरण रहे स्त्री के भीतर एक संस्कृति छिपी है और छिपा है ममता भरा चित्त और व्यक्तित्व यदि विकसित होने दिया जाय तो जो दुनियां और संस्कृति हमारे सामने होगी वह एक तरह की होगी। होगी वह अतयंत प्रीतिकर। आज तक नारी को उपेक्षित कर एकागी दुनियां बसाई थी। नारी आज पुरुष जैसे होने से न बचाई गई तो वही होगा।

स्मरण रहे नारी दुनिया को शक्ति दे सकती है। वह अपने ही गुणों को विकसित करे जमीन में नई मनुष्यता सृजन हो सके और दुनियां ममता प्रेम और आनंद से भर सके—यही मेरी कामना है।

संकलन—
सुश्री क्रान्ति

सीप में सागर

• *"सत्य और स्वयं के बीच अहंकार के अतिरिक्त और कोई बाधा नहीं है। इसलिये ही जो स्वयं को खोता है, वही उसे पाता है। स्वयं को खोने के मूल्य पर ही परमात्मा पाया जाता है। साहस करो और मिट जाओ।"*

—संकलन : कुमारी गुनमाला

• प्रश्नोत्तर वार्ता

जिन खोजा तिन पाइयाँ

इस स्तम्भ के अन्तर्गत आपकी जिज्ञासा के समाधान दिये जावेंगे—प्रस्तुत है डा. ए. यु. बिजलानी के प्रश्न का उत्तर।

—सम्पादक

प्रश्न है :—संसार को त्याग कर संसार के प्रति अलिप्त होकर साधना करना, यह केवल क्या व्यक्ति का स्वार्थ नहीं ? सभी के कल्याण का मार्ग देखकर, कर्तव्य की बाजी लगाकर सभी के साथ अपना कल्याण प्राप्त करने की भावना क्या योग्य नहीं है ? साधना की बजाय क्या सेवा में ही परोपकार और धर्म नहीं है ?

• ठीक पूछा है। हम सभी के मनों में यह बात उठती है कि क्या जो अपनी ही आत्म साधना में लगे हैं, वह स्वार्थ में नहीं लगे हैं ? क्या उचित न हो कि सबके कल्याण के काम में लगें, सेवा में लगें, सहयोग में लगें, जीवन विकसित हो, ऐसे कामों में लगें। अकेले में, एकान्त में बैठकर वे जो कुछ कर रहे हों, अगर उसमें आनन्द और शांति भी मिलती है तो भी यह निपट स्वार्थ मालूम होता है। यह प्रश्न स्वाभाविक है। सबके मनों में उठेगा। लेकिन मैं आपको कहूं कि अगर आपके भीतर का दिया न जल रहा हो, तो आप दूसरों का दिया कैसे जला सकते हैं ? क्या आपको पता है कि अगर आपके भीतर शान्ति न हो, तो आप दूसरों के लिए मंगलदायी हो सकते हैं ? क्या आपको पता है कि अगर आपके भीतर प्रेम न हो, तो आप सेवा कर सकते हैं ? जो आपके भीतर नहीं है, उसे देने की सामर्थ्य आप में कैसे हो सकती है और जो आपके भीतर नहीं है, उसे आप कैसे बांट सकते हैं ? इसलिए स्मरण रखें कि आत्म साधना अगर स्वार्थ की तरह मालूम भी होती हो, तो भी आत्म साधना ही एकमात्र परार्थ और परोपकार है। क्योंकि उसके बाद ही, केवल उसके बाद ही कोई व्यक्ति दूसरों की सेवा कर सकता है। अन्यथा उसके अभाव में सेवा केवल दम्भ होगी, अहंकार होगा। सेवा झूठी होगी, पीछे कोई और मतलब और अर्थ होगें। और जो खुद ही शान्त नहीं है, वह दूसरों को शान्त करने निकल पड़े, और जिसके जीवन में खुद ही मंगल की वर्षा नहीं है, वह दूसरों के कल्याण की बात सोचने लगे, यह सब धोखा है, आत्म प्रवंचना है। अपने भीतर जो अंधेरा है, उसको भुलाने के ही ये सब उपाय हैं। यह तो ध्यान में रहे ही है कि इसके पूर्व कि आप किसी के लिए कुछ काम के हों, आपको अपने लिए काम का होना चाहिए। इसके पहले कि आपका जीवन किसी के लिए भी कल्याणकारी हो ही जाना चाहिए, धर्म स्वार्थ को और परार्थ को विरोध में नहीं देखता है। जो ठीक ठीक स्वार्थ है, वही ठीक परार्थ भी है। मैं तो ऐसे ही देखता हूँ। अगर ठीक ठीक अपने स्वार्थ को सिद्ध कर लें, तो आपके जीवन से ज्यादा परोपकार और कुछ नहीं होगा। क्यों ? क्योंकि जो आपके अत्यन्तिक रूप से स्वार्थ में है, वह किसी के भी स्वार्थ के विरोध में नहीं हो सकता। और स्मरण रखें, आपके भीतर जो भी दूसरों के विरोध में है, आज नहीं तो कल पता चलेगा कि वह आपका भी स्वार्थ नहीं था। ऐसी भूल में व्यक्ति स्वयं को ही हानि पहुँचाता है। दूसरों को पहुंचायी गयी हानि अंततः स्वयं को ही पहुँचायी हानि सिद्ध होती है। यदि आपको दिखता है कि जो दूसरों का स्वार्थ है, वह मेरा नहीं, तो आप समझ लेना कि अभी आपको पता भी नहीं कि आपका स्वार्थ क्या है ? आपको पता भी नहीं कि मेरा हित क्या है ? क्योंकि जो मेरा हित है, वह इस जगत में प्रत्येक प्राणी का ही हित होना चाहिए। क्योंकि सबों के भीतर एक सी आत्मा, एक सी चेतना, एक सी कामना, एक-सी आकांक्षाओं का वास है। सारे लोग दुश्मन की तरह जमीन पर नहीं खड़े हैं, वरन् वे सब बिल्कुल एक ही नियम को अभिव्यक्ति हैं। इन सबके भीतर एक से नियम हैं। क्या एक से नियम हैं ? यदि हम थोड़ा समझने का प्रयास करें तो निश्चय ही वे नियम दिखायी देने शुरू हो जावेंगे। जीवन जो मुझमें है, वही तो सब में है। इसलिए जो जीवन के हित में है, वह सबका ही हित हो सकता है। लेकिन हम तो जीवन को जानते ही

नहीं है। जीवन को जानने में मेरा यह "मैं" ही बाधा बन जाता है। इस 'मैं' के कारण ही स्वार्थ और परार्थ का भेद पैदा होता है। फिर यह "मैं" ही सेवा करे, परहित के कार्य करे तो क्या होगा? धोखा ही न? दूसरों को नहीं, स्वयं को ही इस भांति धोखा होता है। साधन का अर्थ है : मैं को खोना और उसे जानना जो कि जीवन है। उसे जानते ही सब स्वार्थ-परार्थ गिर जाते हैं। फिर तो जो भी है, वह सेवा है। ऐसी सेवा करनी नहीं होती है, वह तो होती है। वह तो वैसे ही होती है, जैसे हृदय धड़कता है और स्वासें चलती हैं।

मनुष्य में थोड़ी भी समझ हो, तो जीवन अपने सब रहस्य खोल देता है। एक व्यक्ति मेरा अपमान करता है और मैं दुखी होता हूँ, तो क्या मेरी समझ यह नहीं देख सकती है कि दूसरों की हृदय में भी मेरा अपमान सही करता होगा? नियम तो एक ही है। और उस पर ही नियम के एक छोर पर मैं हूँ और दूसरे पर दूसरा है। मुझे कोई प्रेम करता है तो अच्छा लगता है और घृणा करे तो बुरा लगता है, तो मैं जानता हूँ कि इस जमीन पर ऐसा प्राणी खोजना कठिन है, जिसे घृणा किया जाना अच्छा लगता हो और प्रेम किया जाना बुरा लगता हो। सारे लोगों के भीतर एक-सी चेतनाएं ही हैं और उनके एक-से नियम हैं और उनकी एक-सी आकांक्षाएं हैं, इसलिए अत्यन्तिक रूप से जो मेरा हित है वह आपका अहित कैसे हो सकता है? यह मेरा हित है कि सारे लोग मुझे प्रेम करें और जब यह मेरा हित है कि सारे लोग मुझे प्रेम करें, तो मैं समझ गया कि यह आपका हित है कि सारे लोग आपको भी प्रेम करें। और यह भी मुझे जानना चाहिए कि अगर मैं खुद प्रेम देने को राजी नहीं हूं तो मैं प्रेम पाने का हक भी तो खो दूंगा। अगर मेरा यह हित है कि प्रेम मेरे पास आए तो मेरा यह कर्त्तव्य हो गया है कि प्रेम मुझसे जाय। जो मेरा हित है, वही मेरा कर्तव्य भी है। अगर मेरा यह हित है कि सेवा मुझे मिले, तो यह मेरा कर्त्तव्य हो गया कि सेवा मैं दूं। लेकिन यह बोध भी तभी होगा, जब भीतर विवेक जाग्रत हो और मुझे अपने हित की पहचान हो जाय। दुनिया में अधिक लोग जिन्हें अपना दुश्मन समझते हैं, वे उनके बिल्कुल दुश्मन नहीं है। अधिक लोग जितने अपने दुश्मन हैं, उतना उनका कोई दुश्मन नहीं। यह मैं आपसे भी कहता हूँ कि यदि आप लेखा-जोखा करेंगे अपनी जिन्दगी का तो जिन्दगी में जितना नुकसान आपने अपने को पहुँचाया है, उतना कोई दूसरा नहीं पहुँचा सकता। अगर हर एक आदमी अपना स्वार्थ साध ले, तो अपने को नुकसान नहीं पहुँचा सकेगा। और बड़े मजे की बात यह है कि जो अपने को नुकसान नहीं पहुँचा सकेगा, वह केवल अपने को नुकसान से बचाने के लिए ही किसी को भी नुकसान पहुँचाने में असमर्थ हो जाता है। मैं अपना हित साध लूं, तो मैं सबकी सेवा में तत्पर हो जाऊं। इसलिए स्वार्थ को और परार्थ को मैं विरोध में नहीं देखता हूँ। साधना को और सेवा को मैं विरोध में नहीं देखता। साधना ही सेवा का आधार है। तो यह मत सोचें कि आप स्वयं के जानने की साधना में लगे हैं, तो स्वार्थ साध रहे हैं। यह मत सोचें कि आप अपनी आत्मा की शांति खोज रहे हैं, तो स्वार्थी है। आप अपने भीतर शान्त हो जायें, आनन्द से भर जायें, प्रेम से भर जायें, इससे बड़ा और कोई परोपकार नहीं है। आपका अशांत होना, दुखी होना, घृणा से भरा होना और मूलतः अज्ञान में होना ही आपका अहित तो है ही, और सबका भी अमंगल है। जैसे ही व्यक्ति आत्मज्ञान से भरता है, वैसे ही दो घटनाएं उसके जीवन में घटती हैं। पहली कि वह किसी का भी अहित करने में असमर्थ हो जाता है और दूसरी कि वह सेवा देने के लिए विवश हो उठता है। वह अनायास ही सेवा से भर उठता है। यही उसका आनन्द हो जाता है। उसका जीवन दूसरों के पथ पर फूल बन जाता है। कांटे स्वयं में थे। इसलिए वह कांटों की भांति था। जब 'स्व' में फूल खिलते हैं, तो वह सहज ही सबके लिए फूल हो जाता है। आनन्द मिलते ही बंटने लगता है। एक आंतरिक विवशता उसे चहुँ ओर दिखने लगती है। उसे बांटना ही पड़ता है। क्योंकि जो दूसरों को उसे जितना बांटता है उससे कई गुना उसको वापस उपलब्ध हो जाता है। और जो आनन्द के संबंध में सत्य है, वही दुख के संबंध से भी सत्य है। जो, जो बांटता है वही उसे वापस उपलब्ध हो जाता है। यदि मैं अपने चारों तरफ घृणा बांटता हूँ, तो वह सारी घृणा अनेक-अनेक लोगों में प्रतिबिम्बित, प्रतिध्वनित और प्रतिफलित होकर मुझ पर ही अनेक गुना ही वापस लौट आती है और अगर मैं प्रेम बांटता हूँ, तो प्रेम वापस लौट आता है। और इसलिए आत्म साधना सर्व सेवा के विरोध में नहीं है। और स्वयं

को जानना सर्व की सेवा के लिए न केवल विरोध में ही नहीं है, वरन् वही केवल हित में है। उसके अभाव में शेष सारी बातें न तो हित की हैं न अर्थ की।

एक व्यक्ति ने बुद्ध को जाकर कुछ ऐसी ही बात कही थी। उसने उनके पैर छुए और उनसे कहा : "प्रभु मैं आपकी बातों से प्रभावित हुआ हूं। अब मुझे बताइए कि मैं दुनियां के लिए क्या करूं ?" बुद्ध चुपचाप खड़े रह गए। उनके पास जो भिक्षुक थे, वे बहुत हैरान हुए। कभी उन्होंने बुद्ध को इस भांति चुपचाप खड़े रहते नहीं देखा था। उस आदमी ने दोबारा पूछा कि आप क्या सोच रहे हैं, मुझे आज्ञा दें। मैं दुनियाँ के लिए क्या करूँ ? बुद्ध ने कहा : मेरे मित्र मैं तुम से हैरान हूं कि मेरी बात तुम्हें पसन्द आयी लेकिन तुमने मुझसे यह नहीं पूछा कि मैं अपने लिए क्या करू ? तुम मुझसे पूछते हो दुनियाँ के लिए क्या करूं ? तुम अपने को धोखा दे रहे हो। कहीं तुम दुनियाँ के लिए करने की बातों में खुद के लिए कुछ करने की बातों में खुद के लिए कुछ करने से तो नहीं बचना चाहते हो ? नहीं मित्र, अच्छा हो कि तुम स्वयं के लिये ही कुछ करो।" ऐसी ही स्थिति बहुतों के साथ है। और यही वजह है कि जो उपदेश हम दूसरों को देते हैं, उन उपदेशों को हम खुद भी नहीं मानते। और यही वजह है कि जिन बातों को हम दूसरों में आलोचना करते हैं, उनमें हम अपने को कभी नहीं गिनते और यही वजह है कि जिन बातों की हम प्रशंसा करते हैं, उनको स्वयं में पैदा करने का कभी ख्याल नहीं करते। सब कुछ दूसरों में पैदा होना चाहिए। दुनियाँ में अज्ञान के समर्थन में इससे ज्यादा और कोई बात नहीं है, जितनी दूसरों का सुधार. दूसरों का कल्याण, दूसरों का मंगल करने की कामना। वह आदमी कितना पागल है, जिसने खुद का मंगल नहीं साधा हो और दूसरों के मंगल का विचार कर रहा हो। धोखेबाज है वह।' और दूसरों को धोखा देना उतना मंहगा नहीं जितना खुद को धोखा देना मंहगा पड़ जाता है, क्योंकि अनीति में दूसरों को दिये गये धोखे बहुत छोटे साबित होते हैं, उस धोखे के मुकाबले जो कि व्यक्ति स्वयं को ही दे सकता है। अपने को दिया गया धोखा सबसे बड़ा धोखा साबित होता है, क्योंकि उसमें पूरा जीवन दांव पर लगाकर खो जाता है। तो मैं आपको कहूंगा कि स्वार्थी हो जायें, मैं आपको कहूंगा कि अपने हित के अतिरिक्त कुछ भी न सोचें। दुनिया को एक कोने में रख दें और सबसे पहिले अपने हित ही सोच लें। इतना मैं जरूर आपको आश्वासन दिलाना चाहता हूं कि जिस दिन आप अपना हित पहचान लेंगे और अपना हित साध लेंगे, इस दुनिया में आपका हित फिर किसी के हित के विरोध में नहीं पड़ेगा, वरन् आपका पूरा का पूरा जीवन ही दूसरों के हित में दूसरों के कल्याण में आधार बन जायगा। धन्य है वे लोग जोकि स्वयं आलोक बन जाते हैं, क्योंकि फिर उनका जीवन दूसरों के अन्धकाराच्छन्न पत्रों को भी आलोकित करता है।

दूसरा प्रश्न—महावीर बुद्ध, राम, कृष्ण ऐसे बड़े-बड़े महापुरुष हुए उन्होंने सत्य को खोजा, लेकिन फिर भी दुनियाँ में इतना असत्य क्यों है ?

इसका एक ही कारण है कि सत्य कोई एक व्यक्ति दूसरे को दे नहीं सकता। स्वयं जिसे उपलब्ध होता है वह उसके साथ ही चला जाता है। वह आत्मोपलब्धि जो है। बुद्ध को मिलेगा, बुद्ध के साथ विलीन हो जायेगा। उसे बांटा नही जा सकता। वह दूसरे आदमी को दिया नहीं जा सकता कि मैं मरता हूं, तो लो अब इस सम्पत्ति को तुम संभालो। उसकी कोई वसीयत नहीं हो सकती है। सत्य की कोई वसीयत नहीं होती। वह हस्तांतरित नहीं होता है। इसलिए उसे पाने, देने, चुराने. मांगने, या खो देने का कोई भी उपाय नहीं है। इसलिए यह भी हो सकता है कि यदि एक पीढ़ी के सभी लोगों को भी सत्य उपलब्ध हो जाय तो भी उनके बाद की पीढ़ी को वहीं से शुरू करना होगा जहां से उन्होंने शुरू किया था। बीती पीढ़ी के कंधों पर इस संबंध में खड़ा नहीं हुआ जा सकता। सत्य की यात्रा की कोई परंपरा नहीं है। वह तो प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ही पहल से प्रारंभ करनी होती है। धर्म इसीलिए न तो परंपरा में है, न संप्रदायों में, न संगठनों में। धर्म तो अत्यन्त वैयक्तिक है। वह तो प्रेम की भांति है। इसलिए सत्य और सौन्दर्य और प्रेम कभी पुराने नहीं पड़ते हैं। वे तो नित नूतन हैं। वे तो सनातन होते हुए भी इसलिए चिरनवीन हैं। और उन्हें पाने का आनन्द भी यही है कि वे कभी बासे नहीं होते हैं। व्यक्ति जब भी उन्हें पाता है, तभी वे मौलिक हैं। और उन्हें पाकर वह किसी को दुहराता नहीं है। सत्य को पाने की घटना कभी भी पुनरुक्ति नहीं है। वह सदा ही अभिनव है। इसलिए ही सत्य वसीयत नहीं है। न वेदों की, न उपनिषदों की, न कुरान की, न बाइबल की। वह किसी की भी पुनरुक्ति नहीं है। न बुद्ध की, न महावीर की, न कृष्ण की, न क्राइस्ट की। वह तो सदा ही मौलिक आविष्कार है। उसका ही जो कि उसे पाता है।

WHO AM I

Translated by—
Dr. Dayanand Bhargava.

One night, it was full moon. I stood on a river bank, looking all alone at the sky. It was all silence far and wide. I heard the sound of foot-steps behind me. I turned back and saw that a young monk was standing. I requested him to sit. As he sat, I saw him weeping. Tears rolled down incessantly from his eyes. I drew him near. I sat silently with my hand on his shoulder for some time. There was nothing to say nor was then any occasion to say any thing. But my silence, full of love, consoled him. I do not remember how much time passed off like this. At last he said, "I want to see God. Tell me, does God exist ? Or am I only running after a mirage ?

What could I say ? I drew him nearer. I do not know any God other than Love.

He who ignores Love and searches for God is mistaken.

He who searches for a temple other than that of Love moves farther away from God.

But all this was in my mind alone. But finding me silent, he asked again, "Pray speak; say something at least. I have come to you with great expectations Will you not be able to show me God ?"

Then again, what could I say ? I drew him still nearer, and gave a kiss on his eyes which were full of tears. There was great expectation in those tears, an intense desire to know. Without doubt, those eyes were anxious to see God. But is God any thing external which can be seen ? God is not so remote that you could see him. At last, I told him, "The same question which you have put to me was asked by some one else from Sri Ramana. Sri Ramana had replied: Seeing God? No, no He connot be seen. But if you want, you can yourself become God.". I also repeat you the same thing. It is meaningless to try to know and find God. How can you find a thing which you have not lost at all ? How can you know that which you yourself are ? In fact, what we can see cannot be our own mirage. By the very idea that He could be seen, He becomes external and away from self God is our own image. and therefore, it cannot be seen. Friend ! What we see as God is just our own imaginary creation. The mind of man can give form to any imagination, but one moves away from truth when one is lost in these imaginations.

I am spontaneously reminded of this incident because you also want to see God. You have come here so that I may say something about it.

I was myself investigating, in the same way. But after repeated investigations, I have come to realise the futility of this investigation. I realised that when I was not able to know the investigator himself, how could I know the Truth, entangled in ignorance as I was.

It is absolutely necessary to know the 'self' before you can know the Truth.

And as soon as we know the self, we know that nothing else remains to be known.

As soon as we can find the key to self-realisation, the lock of Truth is unlocked.

Truth is omnipresent. It is present in all existence. But the nearest way to reach it, is through the self. Because the existence of self is nearest to the self, therefore, the investigation of Truth is possible only through investigation of the self.

He who cannot investigate the self, one who cannot investigate into a nearer thing, how can he know a thing at a distance ? The idea of investigating into a distant object can also mean running away from the investigation of that which is nearer.

Investigation of wordly objects starts so that one can run away from the self; and then begins the investigation of God. Are not all investigations, except that of self, ways to escape from the self ?

Let us see inside. What do we see there ? Darkness, loneliness, emptiness. Are we not running for shelter somewhere, away from this darkness, this loneliness, this emptiness ? But we do not achieve any thing except suffering out of this escapish mentality. He who escapes from the self meets nothing but failure, because an investigation, which is an escape from the self, leads nowhere

There are only two alternatives : escape from the self or awakening in the self. There must be an external object for escape; and for awakening there must be a disillusionment about the utility of external attractions.

As long as God is external, it is mundane;it is an illusion;it is a hallucination. Man has invented Him to find an escape from the self and to run away from it.

Friend, the first thing, therefore, which I have to say is that we need not investigate God, Truth, Liberation, or Emancipation. Let us investigate the investigator himself. That investigation alone will ultimately lead to the investigation of God, Truth and Liberation.

No other investigation is religious except that of the self.

But the terms 'self', 'self-realisation', etc. are extremly illusory for how can we know the self ? For knowledge, we require duality—we require two. How can there be knowledge where there are no two things ? How can we see; how can we realise ? In fact 'knowledge', 'perception' etc. belong to the world of duality; and where there is non-duality, where there is only one, no wonder, they lose all sense. For me, 'self-perception' is an impossibility. That word is self-contradictory.

I also say, 'know the self'. Socrates also said the same thing. So said Buddha, Mahavira, Christ and Krisna. Even then we must realise that what can be known, cannot be the self. It can only be non-self. The self is that which knows. The self is necessarily the knower. It cannot be made the object of knowledge by any means. How can, then, we know it ? Only the object of knowledge is known. How can the 'knower' be known ? Where there is knowledge, there is also some knower and also some object of knowledge. Something is known and somebody knows. Now, is not the attempt to know the knower like an attempt to see an eye with the same eye ? Have you ever seen the dog making unsuccessful attempt to catch hold of his own

tail ? The tail moves away as quickly as they try to grab it. Even if they go mad in this attempt, can they ever catch hold of their tails ? Even if it may be possible that they could catch their tails, It is not possible to make self an object of knowledge.

I can know every thing; but cannot know my own self in the same way. It is, perhaps, for this very reason that the simple fact of self-knowledge remains difficult and complicate.

Then what should we understand by self-knowledge ? Certainly it is not the same know-ledge with which we are familiar. It is not a relation between the knower and the object of knowledge. Therefore, we can call it supreme knowledge, if we so like, because there remains nothing to be known after it. We may also call it supreme ignorance, because there is nothing to be known.

The knowledge of an object is the relation between the subject and the object. The selfknowledge is the absence of the subject and object.

In the knowledge of an object, there is the knower and the object of knowledge. In the self-knowledge there is neither the knower nor the object of knowledge. There remains only knowledge. It is pure knowledge.

All objects in the world are known like the object of knowledge. In fact, that which is the object of knowledge or becomes such object of knowledge is the object. One who knows, one who is the knower, is the non-object. The knowledge of matter is the relation between the knower and the object of knowledge. But where there is neither object of knowledge nor the knower because where there is no object of knowledge there could be no knower), whatever remaing there, whatever knowledge remains there, is the knowledge of the self.

The purest state of knowledge is the self-knowledge.

And it is also in the fitness of things that we call it knowledge, because there is neither self nor non-self Buddha has done a right thing by not calling it self, because this word suggests ego; and where there is ego, how can there be self ?

What is the way to attain this know-ledge ? What is the path ? Where is the opening ?

I was a guest in a house. There was so much luggage in that house that there was no place to move about. The house was big, but on account of the excessiveness of luggage, it looked small. In fact, there was luggage and luggage all round; the house was invisible because the empty space surrounded by walls is the house and not the walls. The empty space is the house because we are not to live in the walls, but we are to live in that empty space. In the night, the host told me that there was no space in the house. How could space be created ? I began to laugh and told him that there was enough empty space in his house. It was there and nowhere else; but he had filled it up with luggage. If the luggage could be taken out, enough space could be found inside. The space was already there, but it had disappeared due to fear of the luggage. If the luggage could be removed it would be there in no time.

Similar is the process of self-knowledge.

'I' am constantly there. 'I' am there whether sleeping or awake, sitting or moving whether in pain or pleasure. Whether there

is knowledge or ignorance, 'I' am there. Then my existence is beyond doubt. Every thing else can be doubted, but one cannot doubt oneself. Descartes has said : "Even if I doubt I am there; because who else will doubt except I ?"

But who am I ? What is this 'I' How can I know it ? It is all right that I am. But what am I ? Who am I ?

That I am, there is no doubt about it; and also there is no doubt that I know, that I have knowledge, consciousness and perception.

It is possible that whatever I know may not be true, may be false, may be a dream, But my knowledge, my capacity to know, is true.

Let us see these two facts. Let us ponder over them. My being there, my existence; and my capability to know, the existence of knowledege in me. The path can be investigated on the basis of these two.

I am; but I do not know who am I ? What should I do ? I should peep into and investigate into the capability of knowledge and the power of knowledge. Where is any other alternative to this ?

Knowledge has a power, but it is covered with the objects of knowledge. One object goes, another comes. One thought goes, another enters. The knowledge is freed from one object and is bound by another. But it is never empty. If this knowledge becomes devoid of object, what shall happen? Will not the knowledge, in that void, in that emptiness become the expositor of the power of the self When there would be no other object to know, will the knowledge not know itself ?

Where the knowledge is devoid of object, then it is established in itself.

Where the knowledge is free from object, there it becomes pure; and that purity, that emptiness itself is the self-knowledge.

Where the consciousness is devoid of objects, thoughts and change, there the experience is 'self-realisation.'

But in this realisation there is no knower and no object of knowledge. This experience is unprecedented. There is no word for it. Laotza has said : "Whatever you may say about the truth, it becomes falsehood as soon as you have said it."

Even then, about what else have we said so much as we have said about the ? Even if we say that it is indescribable, we do say something about it. Even if we remain silent about it, we do say something about it. Knowledge is beyond words. But love wants to tell us about its bliss, about its light, about its freedom. However, incomplete the allusions may be, however unsuccessful the solutions may be, even the dumb would say something about sugar; even though he may not be able to say any thing yet he would explain that he wants to say something.

But by catching hold of the incomplete suggestions about truth, there could be great misunderstanding about it.

In the search of self-knowledge he who starts investigating the self as an object of of knowledge **ab initio** takes to the wrong direction.

The self is not the object of knowledge. It cannot be made the aim of any desire. because it is not an object either.

(See our next issue.....)

जीवन जागृति केन्द्र, बम्बई द्वारा प्रकाशित
आचार्य रजनीश साहित्य

प्राप्ति स्थल—श्री हिम्मत भाई जोशी, C/o अब्दुल्ला भाई मेंशन्स, २२, प्रिंसेज स्ट्रीट, बम्बई—२

हिन्दी साहित्य	मूल्य रुपया
१ साधनापथ	३–००
२ क्रांतिबीज	३–००
३ सिंहनाद	१–५०
४ अमृतकण	०–५०
५ अहिंसादर्शन	०–४०
६ मिट्टी के दिये	३–००
७ पथ के प्रदीप	४–५०
८ मैं कौन हूँ	२–००
९ कुछ ज्योतिर्मय क्षण	०–४०
१० नये मनुष्य के जन्म की दिशा	०–४०
११ सूर्य की ओर उड़ान	१–००
१२ प्रेम के पंख	०–७५
१३ सत्य के अज्ञात सागर का आमंत्रण	१–२५
१४ अज्ञात की ओर	१–००
१५ नये संकेत	१–७५

मराठी साहित्य	मूल्य रु०
१ साधनापथ	३–००
२ सिंहनाद	२–००
३ अहिंसादर्शन	०–५०
४ अमृतकण	०–५०
५ क्रांतिबीज	२–५०
६ प्रेमाचे पंख	०–७५

गुजराती साहित्य

१ साधनापथ		२–००
२ क्रांतिबीज		२–००
,,	स्पेशल प्रति	२–५०
३ माटी ना दिवा		३–००
,,	स्पेशल प्रति	३–५०
४ पथ ना प्रदीप		३–००
५ सिंहनाद		१–२५
६ नवा संकेत		१–७५
७ अमृतकण		०–५०
८ अहिंसादर्शन		०–५०
९ केटलीक ज्योतिर्मय क्षण		०–७५
१० नवा मनुष्य ना जन्म नी दिशा		०–७५

Published by:—
MOTILAL BANARSIDAS, Delhi

English Version.

1	Who Am I	3/-
2	The Earthen Lamps	4/50
3	Wings of love & Random Thoughts	3/50
4	Seeds of Revolulionary Thought	4/50
5	Philosophy of Non-Violence	0/80
6	Path of Self Realisation	2/25

आचार्य श्री के आगामी देश व्यापी कार्यक्रम

दिनांक	स्थान	कार्यक्रम	संयोजक
२१, २२ एवं २३ मार्च ६९	माथेरान	साधना-शिविर	श्री माणिकलाल बाफना, जीवन-जागृति केंद्र, स्पार्टन लग्झुरी, सी. १, २४७।१४ बी., यरोडा, पूना-६. फोन : २४११४
२९, ३०, ३१ मार्च, एवं १ अप्रेल	पटना	विश्व हिंदू धर्म सम्मेलन	श्री मथुरा बाबू मिश्र, जीवन-जागृति केंद्र, रोड नं. १, राजेन्द्र नगर, पटना-४. फोन : २४२२४ फोन : २९५
१२, १३ एवं १४ अप्रेल, ६९	अमृतसर	सत्संग	श्री चमनलाल अग्रवाल, जीव जागृति केंद्र, २५ केनेडी एवेन्यु, अमृतसर. फोन : ४१४७०
२३, २४ अप्रेल, ६९	खंडवा	प्रवचन	श्री कन्हैयालाल हुमड़, अध्यक्ष—लायन्स क्लब, खंडवा. फोन : ६६१
२५, २६ एवं २७ अप्रेल, ६९	बुरहानपुर	सत्संग	श्री नंदकिशोर देवड़ा, अध्यक्ष--नवरात्रि व्यायामशाला बुरहानपुर. फोन : १५
५, ६ तथा ७ मई, ६९	कोल्हापुर	सत्संग	श्री हरिश्चंद्र मेहता, महाद्वारा रोड, कोल्हापुर--२
८ तथा ९ मई, ६९	पूना	प्रवचन	श्री माणिकलाल बाफना, जीवन-जागृति केंद्र, स्पार्टन लग्झुरी, सी-१, २४७।१४ बी. यरोडा, पूना-६. फोन : २४११४
१७, १८ १९ तथा २० मई, ६९	इन्दौर	सत्संग	श्री एल. एस. आचार्य, मंत्री—जीवन-जागृति केंद्र, मेहता चेम्बर्स, ३४, सियागंज, इन्दौर. फोन : ६३४९
२० तथा २१ मई, ६९	भोपाल	प्रवचन	श्री निर्मल जी भंडारी, अध्यक्ष--जैन सांस्कृतिक संस्था, भोपाल।
३०, ३१ मई एवं १, २ जून, ६९	बंबई	सत्संग	श्री प्रेमचंद मुशेरी, जीवन-जागृति केंद्र, अब्दुल्ला मेन्शन, २२, प्रिसेज-स्ट्रीट, बम्बई.
३ १, ५ एवं ६ जून, ६९	उदयपुर	साधना-शिविर	श्री हीरालाल कोठारी, जीवन-जागृति केंद्र, दांता मैरू, कुम्हारवाड़ा, उदयपुर (राज०) फोन : ४६५

• "युक्राँद" प्रकाशन समिति आपके सहयोग एवम् प्रेम की आकांक्षी है •

युक्राँद प्रकाशन समिति

१. श्री नेमकुमार, जबलपुर
२. श्री अजित कुमार जबलपुर
३. श्री राजकुमार जबलपुर
४. मौ. किरण वर्मा जबलपुर
जबलपुर

सदस्यता शुल्क

१. संरक्षण सदस्य–स्वेच्छानुसार
२. आजीवन सदस्य २०० रु०
३. दस वर्षीय सदस्य १०० रु०
४. पांच वर्षीय सदस्य ५० रु०
५. वार्षिक सदस्य १२ रु०

विज्ञापन दर

पूरे पृष्ठ का २०० रु०
आधे पृष्ठ का १०० रु०
चौथाई पृष्ठ का ५० रु०

—युक्राँद विज्ञापन विभाग